कल्याण



वर्ष २४ अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, जुलाई सन् १९५०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

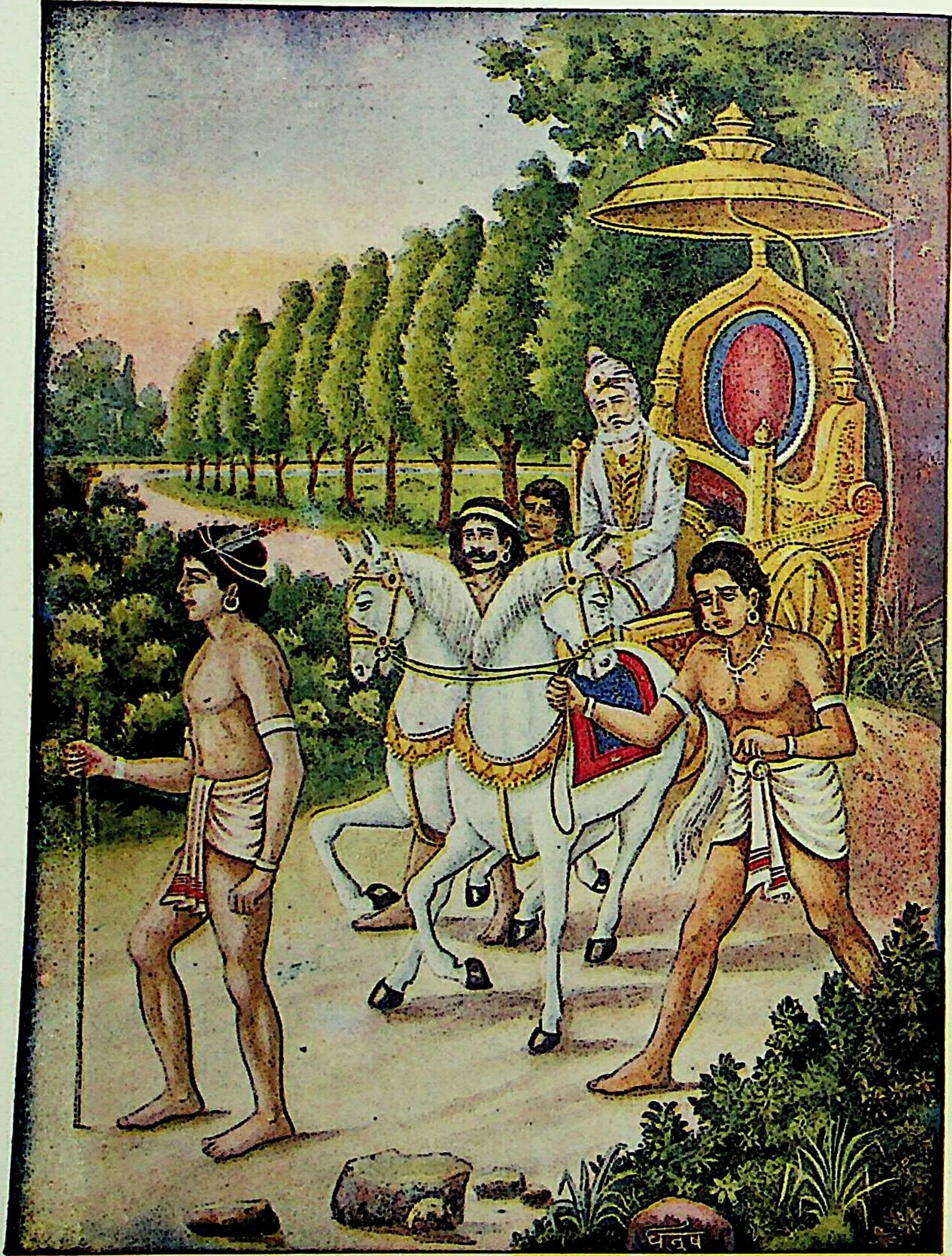
साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ

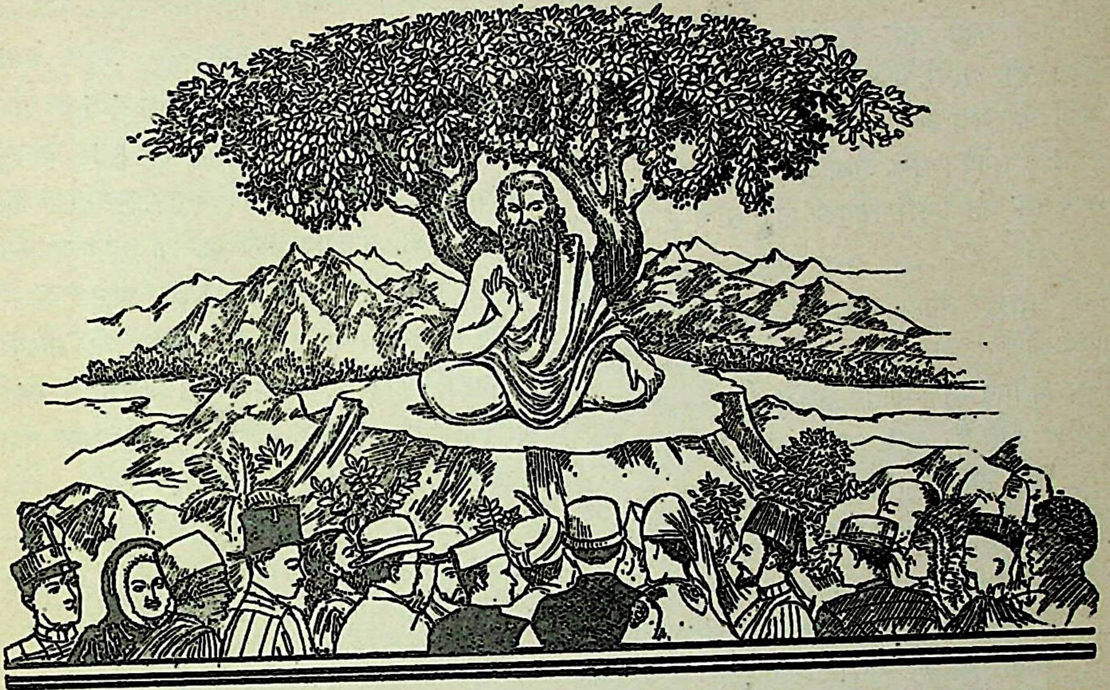
श्री सीताराम रामचन्द्र लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न
सीता हनुमान सुग्रीव / राजेन्द्र पाण्डेय

रामविरही घोड़े



भटुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछें। राम बियोगि बिकल दुख तीछें॥
जो कह रामु लखनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥

2



एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(-मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ | गोरखपुर, सौर श्रावण २००७, जुलाई १९५० | संख्या ७ पूर्ण संख्या २८४

राम-विरही घोड़े

हिंकरि हिंकरि हय पाछेइ हेरैं ।
जो कह राम-लखन-वैदेही, तेहि चितवहिं हठि टेरैं ॥
आगे धरन चहत नहिं द्वै पद केवट घरे-चलावैं ।
वनमृग जोरे मनहु आनि रथ पथ कैसे चलि पावैं ॥
नयनन नीर स्वेद-साने तन बिहवल इत-उत धावैं ।
रघुबर-बाजि निषाद विलोकत लोचन नीर बहावैं ॥

याद रक्खो—संसारके भोगोंमें सुख है ही नहीं, जो वस्तु जहाँ नहीं है, वह वहाँ कैसे मिलेगी। ढूँढ़ते रहो, दर-दर भटकते रहो, सिर पटकते रहो, सर्वत्र और सदा अन्तमें निराशा, निर्वेद और व्यथाके ही थपेड़े लगेंगे। सुख—सच्चा और स्थायी सुख तो है—भगवान्‌में और उन भगवान्‌की प्राप्ति होती है त्यागसे।

याद रक्खो—जो पुरुष त्यागसे प्राप्त होनेवाले निर्मल सुखका अनुभव करता है, वह भोगोंकी ओर कभी आँख उठाकर देखता ही नहीं। हाँ, भोगोंके प्रचुर प्रलोभन भाँति-भाँतिसे सज-धजकर उसके सामने स्वयमेव आते हैं उसे अपनी ओर खींचनेके लिये, परंतु वह उन्हें उसी प्रकार ठुकरा देता है जैसे बहुमूल्य रत्नोंको पा जानेवाला मनुष्य रंग-बिरंगे काँच-पत्थरोंको।

याद रक्खो—त्यागीको अपनी सन्तोषमयी वृत्तिसे और त्यागभरी स्थितिसे जो सुख प्राप्त होता है, उसकी तुलनामें भोगोंके—धन, मान, यश, आराम, अधिकार आदिके सभी सुख सर्वथा तुच्छ और नगण्य हैं। सच्ची बात तो यह है कि भोग-सुख वस्तुतः सुख ही नहीं है। बुद्धिहीन मनुष्योंको भ्रमके कारण ही उसमें सुखकी प्रतीति होती है। असलमें तो उनसे दुःख ही उत्पन्न होते हैं, इसीसे बुद्धिमान् लोग भोगोंमें अपने मनको नहीं फँसने देते—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

याद रक्खो—जो वस्तु अनित्य, परिवर्तनशील और अपूर्ण है, उससे कभी सच्चा और स्थायी सुख मिल ही नहीं सकता। इसीलिये आज जो किसी भोग-सामग्रीसे—धनसे, मानसे, सन्तानसे, सत्तासे अपनेको सुखी मानता है, वही कल रोता-विलपता देखा जाता है।

याद रक्खो—त्यागमें पहले-पहले कुछ कठिनाई-सी लगती है, कुछ कर्कशता-सी प्रतीत होती है, इसीसे मन उससे भागना चाहता है; परंतु गहराईसे विचार कर देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि जितनी कठिनाइयाँ, जितने क्लेश, जितनी कर्कशता और जितनी पीड़ा भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके साधनमें और प्राप्त होनेपर उनके संरक्षणमें हैं, उतने त्यागमें कदापि नहीं हैं। वरं त्यागकी कठिनाई और भोगकी कठिनाईमें जातिगत बड़ा भेद है। त्यागकी कठिनाई सात्त्विक है और भोगकी कठिनाईमें राजसिकता तथा तामसिकता है। त्यागकी कठिनाईका परिणाम परम अमृतकी प्राप्ति है और भोगकी कठिनाईका परिणाम विषमयी ज्वाला है, जो लोक-परलोकके जीवनको जलाकर सर्वथा यातनापूर्ण और जर्जरित कर देती है।

याद रक्खो—भोग भ्रमाते हैं और त्याग स्व-रूपमें स्थिति कराता है। भोगोंसे कभी न पूरी होनेवाली भयानक इच्छा, कामना और वासनाएँ उत्पन्न होती हैं जिनसे सदा दुःख-ही-दुःख मिलते हैं एवं त्यागसे वे सब-की-सब क्षीण होती हैं तथा खूराक न मिलनेसे—ईंधनके अभावमें आग बुझ जानेके समान—स्वयमेव बुझ जाती हैं, मर जाती हैं।

याद रक्खो—त्यागसे जीवनमें शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' और शान्तिसे मनुष्य परमानन्द-स्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करता है। भोगसे अशान्ति प्राप्त होती है और वह जीवको जबर्दस्ती नरकानलमें दग्ध होनेके लिये ले जाती है।

याद रक्खो—यदि तुम 'भोगोंमें सुख है' इस भ्रान्तिको त्यागकर भोगोंका मोह छोड़ दोगे तो शीघ्र ही सुखी हो जाओगे और तुम्हारा यह त्यागका सुखी जीवन तुम्हें भगवान्‌की ओर ले जायगा। एवं ऐसा करनेपर तुम्हें निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

'शिव'

श्रीसंत-वाणी

(एक संतका पत्र)

जिसे हम अपना मान लेते हैं एवं जिसकी हमें आवश्यकता हो जाती है, उसमें अनुराग स्वतः उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों मिलनेमें देर होती जाती है त्यों-त्यों प्रीतिका प्रवाह और प्रबल होता जाता है। वह प्रीति प्रीति नहीं है जिसमें शिथिलता आती हो। प्रीति वही सार्थक है जो उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। प्राणी प्रीति करनेमें सदैव स्वाधीन है। पराधीन केवल उपभोगमें है, प्रीतिमें नहीं। अतः भगवत्-अनुराग कैसे उत्पन्न होगा यह आस्तिक प्राणीका प्रश्न ही नहीं हो सकता। क्योंकि सच्चा आस्तिक वही है जिसके अन्यान्य चिन्तन एक चिन्तनमें विलीन हो जाते हैं।

जिसने सद्भावपूर्वक यह मान लिया है कि 'प्रभु मेरे हैं, मैं उनका हूँ' बस वही भक्त हो गया। भक्त होते ही भक्तिरस स्वतः उत्पन्न होता है। भक्तिरस कितना अनुपम रस है, जिसे वाणीद्वारा तथा लेखनी-द्वारा प्रकाश करना सम्भव नहीं है। हाँ, संकेतकी भाषामें केवल यह कह सकते हैं कि उस अनुपम रसके लिये भक्त और भगवान् दोनों ही लालायित रहते हैं।

जिसने सरल विश्वासपूर्वक यह मान लिया कि 'प्रभु मेरे हैं' वह यह नहीं मान पाता कि 'तन मेरा है, मन मेरा है, प्राण मेरा है, सम्बन्धी मेरे हैं और धन मेरा है इत्यादि।' वह तो यही पाठ पढ़ता है कि उनके अतिरिक्त मेरा कोई नहीं है। इतना ही नहीं, उसे यह भी चिन्ता नहीं रहती कि वे मुझे अपना कहें। वे भले ही मेरे होकर न रहें, पर मैं किसी दूसरेका होकर नहीं रह सकता। ऐसी अविचलित धारणा ही भक्तकी धारणा है। भक्तको स्मरण, चिन्तन, ध्यान करना नहीं पड़ता, होने लगता है। प्रीति और आसक्तिमें एक बड़ा भेद है, प्रीति अपनत्वसे और आसक्ति अभ्याससे उत्पन्न होती है। प्रीतिका आरम्भ तो होता है किंतु अन्त नहीं होता; क्योंकि प्रीति प्रियतमका स्वभाव और प्रेमीकी माँग है। आसक्ति अभ्याससे मिट जाती है। अभ्यासका जन्म सीमित अहंभावसे होता है और प्रीति प्रभुसे जातीय एकता जान लेनेपर होती है। अतः जब साधकको यह भलीभाँति ज्ञात हो जाता है कि मैं और मेरा प्रियतम दोनोंकी जातीय एकता है, तब उसे अपना मान लेनेमें कुछ भी कठिनाई तथा विकल्प नहीं होता है। प्राणीसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिस संसारमें मानी हुई एकता है, उसे वह जातीय एकता मान लेता है। जिसके कारण वह वासनाओंके जालमें आबद्ध हो जाता है और फिर अपने प्रभुसे अपनापन नहीं कर पाता। अतः हम आस्तिकोंको यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि हमारी जातीय एकता तो केवल श्रीहरिसे ही है, संसारसे नहीं। जब साधक अपने प्रेमास्पदके सम्बन्धको भलीभाँति जान लेता है, तब उसके जीवनमें निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण प्रभुकी अहैतुकी कृपासे स्वतः उत्पन्न होते हैं। फिर उसका हृदय पवित्र प्रीतिसे भर जाता है एवं मन अमन हो जाता है। और अहंता अभिमान-शून्य हो जाती है। इतना ही नहीं, अपने प्रियतमसे भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता।

'यह जो कुछ है, उनका है' यह प्रीतिकी प्रथम अवस्था है; 'यह जो कुछ है, उसमें वे ही लीला कर रहे हैं' यह प्रीतिकी दूसरी अवस्था है; और 'उनके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं' यह प्रीतिकी अन्तिम निष्ठा है। अतः सब कुछ उनको समर्पण करके ईमानदारीके साथ उनके हो जाओ। उनकी कृपामयी अनुपम शक्ति पतितको पवित्र, तुच्छको महान् और असमर्थको समर्थ बनानेमें सर्वदा समर्थ है। अतः आस्तिकके जीवनमें निराशाके लिये कोई स्थान ही नहीं है।

आपका प्रश्न सुनकर प्रभु-प्रेरित जो भाव उत्पन्न हुआ, सेवामें प्रकट कर दिया। आपको एवं सत्संगी भाइयोंको ॐ आनन्द।

सिद्धान्त

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[वर्ष २४, अङ्क ५ के पृष्ठ ११०७ से आगे]

२३—संसारमें चार पदार्थ माने जाते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। उनमें अर्थ और काममें तो प्रारब्ध प्रधान है तथा धर्म और मोक्षमें पुरुषार्थ; क्योंकि प्रारब्धके विना प्रयत्न करनेपर भी अर्थ और कामकी सिद्धि नहीं होती। किंतु धर्म और मोक्ष क्रियमाण होनेसे प्रयत्नसाध्य हैं, प्रारब्ध कर्मके फल नहीं। सारांश यह कि ये प्रारब्धकर्मके बलपर अपने-आप सिद्ध होनेवाले नहीं हैं।

शास्त्रविहित कर्मोंके अनुष्ठानका नाम 'धर्म' है। वह धर्म यदि निष्कामभावसे पालन किया जाय तो मुक्तिदायक होता है और वही यदि सकामभावसे किया जाय तो अर्थ और कामकी सिद्धि करनेवाला होता है। 'अर्थ'का अभिप्राय है धन (रुपये) और धनसे प्राप्त होनेवाले पदार्थ। इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिकी अभिलाषाको 'काम' कहते हैं। इसके कई भेद होते हैं, उनमें मुख्य चार भेद समझने चाहिये—तृष्णा, इच्छा, स्पृहा और वासना। स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई आदिके होते हुए भी उनकी वृद्धिकी कामनाको 'तृष्णा' कहते हैं। जिस वस्तुका अभाव हो, उसकी पूर्तिकी कामनाका नाम 'इच्छा' है। अभाव होनेपर भी जिसके विना जीवननिर्वाह न हो सके, उस अत्यन्त आवश्यकतावाली वस्तुकी कामनाका नाम 'स्पृहा' है। तथा जो कुछ प्राप्त है, उसके बने रहने और जीवनके नित्य बने रहनेकी कामनाका नाम 'वासना' है। ये चारों 'काम'के ही भेद हैं। निष्कामकर्म, ईश्वर-भक्ति और परमात्मज्ञानके द्वारा समस्त दुःखोंका अत्यन्त अभाव और परमानन्दकी प्राप्ति होनेका नाम 'मोक्ष' है; इसीको परम गति, परमात्माकी प्राप्ति, मुक्ति आदि नामोंसे कहा है।

२४—कोई प्रारब्धको बलवान् बताते हैं और कोई पुरुषार्थको; किंतु वास्तवमें अपने-अपने स्थानपर ये दोनों ही बलवान् हैं। अभिप्राय यह है कि अर्थ और काममें तो प्रारब्ध बलवान् है तथा धर्म और मोक्षके विषयमें पुरुषार्थ; क्योंकि पुरुषार्थ किये विना अपने-आप न तो धर्मका पालन हो सकता है और न मोक्षकी सिद्धि ही।

किये हुए पुण्य और पापरूप सञ्चित कर्मोंमेंसे जिस कर्मके अंशका फलभोग प्रारम्भ हो जाता है, उसका नाम 'प्रारब्ध' है। इस पुण्य-पापके फलरूप प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—अनिच्छासे, परेच्छासे और स्वेच्छासे। अकस्मात् दैवेच्छासे धन आदिका प्राप्त होना या रोग, सङ्कट, मृत्यु आदिका प्राप्त होना अनिच्छा-प्रारब्धभोग है; परेच्छासे—दूसरोंकी इच्छासे धन आदिका प्राप्त होना या सङ्कट, मृत्यु आदिका प्राप्त होना परेच्छा-प्रारब्धभोग है, एवं अपनी इच्छासे किये हुए प्रयत्नद्वारा अर्थ और कामका सिद्ध होना या इसके विपरीत अर्थ और भोगका विनाश होना—यह स्वेच्छा-प्रारब्धभोग है।

इसपर यह जिज्ञासा होती है कि पूर्वसञ्चित कर्मोंमेंसे एक अंशका ही प्रारब्ध बनता है या इस जन्ममें किये हुए नवीन कर्मका भी प्रारब्ध बन सकता है तो इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि इस वर्तमानकालमें एक क्षण पूर्व किये हुए कर्म भी सञ्चितमें सम्मिलित हो जाते हैं इस कारण वे भी प्रारब्ध बन सकते हैं। यदि कहें कि कोई मनुष्य अर्थ और कामको अपने प्रयत्न (पुरुषार्थ) से प्राप्त करना चाहे तो हो सकता है या नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि हो भी सकता है और नहीं भी। जैसे कोई आदमी आमके वृक्षकी एक

टहनीमें जामुनकी कलम लगा देता है और यदि उसका प्रयत्न सिद्ध हो जाय यानी जामुनकी टहनी उससे जुड़ जाय तो उस आमके वृक्षकी उस टहनीपर भी जामुन लग सकते हैं, इसी तरह कोई मनुष्य इसी जन्ममें पुत्र, धन आदिकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित यज्ञ, तप आदिका अनुष्ठान करता है और उसका वह शास्त्रविहित कर्म सिद्ध हो जाता है तो उसके पूर्वके प्रारब्धमें न लिखे हुए पुत्र, धन आदि भी इस नये प्रारब्धसे प्राप्त हो सकते हैं; किंतु यदि शास्त्रोक्त प्रयत्न सिद्ध नहीं होता तो नहीं भी होते तथा मनमाने किये हुए प्रयत्नसे प्रारब्धका परिवर्तन कभी नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र भी है, पर फल भोगनेमें बिल्कुल नहीं।

अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित प्रयत्नका नाम 'पुरुषार्थ' है। तथा मोक्षकी सिद्धिके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम 'परम-पुरुषार्थ' है। किंतु शास्त्रविपरीत प्रयत्नका नाम 'पाप' और व्यर्थ चेष्टाका नाम 'प्रमाद' है।

अतएव मनुष्यको परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि साधन करने चाहिये।

२५—अर्थ-त्यागके प्रयोगके कई भेद हैं। उनमें चार प्रधान हैं—पूर्वका ऋण चुकाना, दहेज देना, दान करना और ऋण देना।

जैसे किसीकी अत्यन्त गरीब घरमें ब्याही हुई एक लड़की है और उसके लड़केका विवाह है; किंतु उसके पास धन नहीं है, केवल उस लड़कीके पाँच सौ रुपये पिताके पास जमा हैं। लड़केके विवाहमें दो हजार रुपयोंकी आवश्यकता है। इसलिये वह अपने पितासे प्रार्थना करती है कि यह विवाह दो हजार रुपयोंके बिना नहीं हो सकता, चाहे जिस शर्तसे आप रुपये देनेकी कृपा करें। इसपर उसके पिताने पाँच सौ रुपये तो उसके जमा थे, वे दे दिये और पाँच सौ रुपये नानाके नाते दहेजके रूपमें दे दिये तथा पाँच सौ रुपये गरीब होनेके नाते उसे सहायताके रूपमें दे दिये एवं पाँच सौ रुपये ऋणके रूपमें दिये—इस प्रकार कुल दो हजार रुपये दे दिये। इन दो हजार रुपयोंमेंसे पाँच सौ तो जो उसके जमा थे, वे दिये गये; उनका भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहा, क्योंकि वह पूर्वका ऋण चुकाया गया। इसी प्रकार पाँच सौ जो दहेजके रूपमें दिये गये, उनपर पुत्रीके नाते उसका हक था, अतः उनका भी भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहा, क्योंकि वह भी एक प्रकारसे पूर्वजन्मका ऋण ही था। तथा पाँच सौ रुपये जो सहायताके रूपमें दिये गये, उनका भी भविष्यमें लड़कीसे कोई लेन-देन नहीं है, पर यदि वे रुपये सकामभावसे दिये गये हैं तो उससे कामनाकी सिद्धि हो सकती है और यदि वे निष्कामभावसे दिये गये तो उससे उसके अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है। शेष पाँच सौ जो ऋणके रूपमें दिये गये, वे लड़कीसे लेने हैं; यदि ये इस जन्ममें वापस मिल जायँगे तो उनका भी लेन-देन समाप्त हो जायगा, अन्यथा इनका लेन-देन आगे भावी जन्ममें भी चलेगा; किंतु ऋणदाता पिताका यह अधिकार है कि वह अपने हृदयसे यदि इनका त्याग कर दे तो इन रुपयोंका भी लेन-देन समाप्त हो सकता है; पर यह बात ऋण देनेवालेके अधिकारमें नहीं है। ऋणदाता सकामभावसे इनका त्याग करे तो उसकी कामनाकी सिद्धि हो सकती है और निष्कामभावसे करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है।

इसी प्रकार किसीको भी मनुष्य जो कुछ देता है, उसके चार भेद समझ लेने चाहिये। जैसे कोई मनुष्य किसी राजाको भूमिकर, आयकर आदि (टैक्स) देता है, तो वह ऋण चुकानेके समान है, उसका भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहता।

मनुष्य भोग, आराम और यशके लिये जो धन खर्च करता है, वह यदि न्याययुक्त है तो परिणाममें

भोग, आराम और यश देकर समाप्त हो जाता है और यदि अन्याययुक्त है तो दाता पापका भागी होता है।

जो द्रव्य डाकू आदिको मृत्युभयसे दिया जाता है, उसका फल दाताको कुछ नहीं होता, किंतु डाकू आदि पापके भागी होते हैं।

जो मनुष्य मरते समय अपने उत्तराधिकारियोंको धन, ऐश्वर्य आदि छोड़कर चला जाता है, अर्थात् उससे उनका वियोग हो जाता है तो वह पूर्वजन्मके पावनेदारोंका ऋण चुकानेके समान है, अतः उससे उस मृतकको कोई फल नहीं मिलता। किंतु जो मनुष्य आत्मकल्याणके लिये विवेक और वैराग्यपूर्वक धन-ऐश्वर्यादिका स्वेच्छासे त्याग कर देता है, उसका उसे सात्त्विक त्यागकी भाँति अन्तःकरणकी शुद्धिरूप फल मिलता है। इसलिये मनुष्यको धनका उपयोग विवेक-वैराग्यपूर्वक निष्कामभावसे ही करना चाहिये।

२६—मनुष्य-जीवनका समय बहुत ही अमूल्य है। इसलिये जो शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माकी प्राप्तिके इच्छुक हैं उनको तो सारा समय उत्तम-से-उत्तम साधनमें लगाना चाहिये। अर्थात् नित्य-निरन्तर परमात्माको याद रखते हुए ही अपना सारा-का-सारा समय परमात्मामें ही लगा देना चाहिये। जो मनुष्य सब-का-सब समय परमात्माके समर्पण करनेमें असमर्थ हैं, उनको अपने समयका अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार यथायोग्य उपयोग करना चाहिये। अपने समयका उपयोग किस प्रकार किया जाय, इसकी सामान्य विधि यह है—

दिन-रातमें चौबीस घंटे होते हैं। उनमेंसे छः घंटे सोनेके लिये, कम-से-कम छः घंटे एकान्तमें बैठकर केवल भजन-ध्यानादि साधनके लिये, छः घंटे जीविकाके लिये और बाकी छः घंटे शौच-स्नान, आहार-विहार, स्वास्थ्य-रक्षा आदिके लिये लगाने चाहिये। इसका प्रकार यह है—

रात्रिमें १० बजेसे प्रातः ४ बजेतक शयन करना चाहिये। सोते समय मनसे जप, ध्यान या गीतापाठ करते हुए ही सोना चाहिये; क्योंकि इस प्रकार करनेसे स्वप्न अच्छे आते हैं और शयनका समय भी उपयोगमें आ जाता है। प्रातः ४ से ५ तक शौच-स्नान, व्यायाम, आसन करके ५ से ८ तक आत्मकल्याणके लिये पवित्र और एकान्त देशमें बैठकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक अपने अधिकारके अनुसार अर्थको खयालमें रखते हुए सन्ध्या-गायत्री, होम, भगवान्‌के नामका जप, स्वरूपका ध्यान, भगवान्‌की पूजा, स्तोत्रपाठ, स्तुति-प्रार्थना, वेद, गीता, रामायण आदि शास्त्रोंका स्वाध्याय आदि साधन करने चाहिये। ८ से १० तक पर्यटन, स्वास्थ्यरक्षा, गृहकार्य और भोजनादि करना चाहिये; भोजन शुद्ध, सात्त्विक और लघु होना चाहिये। १० से ४ तक वर्णधर्मके अनुसार जीविकोपार्जन करना चाहिये, परमात्माको निरन्तर याद रखते हुए शुद्ध और न्याययुक्त जीविकाके कर्म करने चाहिये। ४ से ५ तक पर्यटन, शौच-स्नान करना चाहिये। ५ से ८ तक आत्म-कल्याणके लिये सन्ध्या-गायत्री आदि सब साधन प्रातःकालकी तरह ही करने चाहिये। फिर रात्रिको ८ से १० तक भोजन करना एवं घरके सब एकत्र होकर आत्मकल्याण, व्यवहार और व्यापारके सुधार तथा समाज और देशकी उन्नतिके लिये बातचीत करनी चाहिये।

इस दिनचर्याको देश, काल, परिस्थिति तथा अपनी सुविधाके अनुसार यथायोग्य घटा-बढ़ा सकते हैं; किंतु परमात्माकी स्मृति हर समय रखते हुए ही सब कार्य करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

परंतु ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासियोंको न तो जीविकाके लिये छः घंटोंकी तथा न आहार-विहार और स्वास्थ्यरक्षादिके लिये ही छः घंटोंकी आवश्यकता है। अतः उन्हें शौच-स्नान, आहार-विहार और

स्वास्थ्यरक्षा आदिके लिये चार घंटोंमें ही काम चलाकर बाकी ८ घंटोंका समय बचाकर ब्रह्मचारियोंको तो गुरुसेवापूर्वक विद्याभ्यासमें, वानप्रस्थियोंको तपस्यामें और संन्यासियोंको आत्मकल्याणके लिये जप-ध्यानादिके साधनमें लगाना चाहिये।

२७–कई मनुष्य सन्दिग्धरूपमें प्रश्न किया करते हैं, उनके प्रश्नोंका निर्णयात्मक उत्तर निश्चितरूपसे दे देना चाहिये। जैसे—

प्रश्न–विवाह करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर–यदि स्वास्थ्य ठीक हो तो विवाह अवश्य करना चाहिये परंतु चालीस वर्षकी उम्रके बाद नहीं।

प्रश्न–संन्यास ग्रहण करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर–संन्यास लेनेका यह समय नहीं है।

प्रश्न–दुःख पड़नेपर आत्महत्या करनी चाहिये कि नहीं?

उत्तर–भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी आत्महत्याका तो कभी विचार भी मनमें नहीं लाना चाहिये।

प्रश्न–गाली देनेवालेको बदलेमें गाली देनी चाहिये कि नहीं?

उत्तर–नहीं।

प्रश्न–अपनेपर अत्याचार करनेवालेका प्रतीकार करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर–अत्याचारका बदला अत्याचारसे नहीं देना चाहिये, आत्मरक्षाके लिये न्याययुक्त प्रतीकार किया जा सकता है।

कोई बीमार आदमी प्रश्न करे तो उसे इस प्रकार उत्तर देना चाहिये—

प्रश्न–आज स्वास्थ्य ठीक नहीं है; खाना चाहिये कि नहीं?

उत्तर–नहीं।

प्रश्न–जल पीना चाहिये कि नहीं?

उत्तर–पी सकते हैं।

प्रश्न–स्नान करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर–नहीं।

प्रश्न–शौच या लघुशङ्काके लिये किस समय जाना चाहिये?

उत्तर–इनके वेगको क्षणमात्रके लिये भी कभी नहीं रोकना चाहिये, तुरंत चले जाना चाहिये।

प्रश्न–निद्रा कितनी लेनी चाहिये?

उत्तर–उचित निद्रा लेनी चाहिये।

२८–सभी बालक-बालिकाओंको दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और विलासिताका त्याग करके नित्य माता, पिता, आचार्य और गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन, सेवा और नमस्कार, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, व्यायाम, ईश्वरभक्ति और सद्गुण-सदाचारके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसके साथ ही बालकोंको अपने-अपने वर्णानुसार जीविकाके लिये अध्यापनकला, युद्धकौशल, खेती, पशुपालन, व्यापार, शिल्प आदि कला-कौशलके काम भी यथासाध्य सीखने चाहिये। एवं बालिकाओंको सिलाई, कताई आदि कारीगरी तथा रसोई बनाना, पीसना आदि सभी गृहकार्य भी सीखने चाहिये।

२९–स्त्रियोंको घरमें सबकी सेवा करना, सबके साथ प्रेम रखना और स्वार्थत्यागपूर्वक समताका व्यवहार करना, स्वावलम्बी बनना, बालकोंको उत्तम शिक्षा देना, सादा भोजन, सादगीसे रहन-सहन और खर्च कम लगाना, रुपयोंका हिसाब-किताब रखना, घरसे बाहर स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं घूमना, धूर्त, ठग और कुटनी स्त्रियोंसे बचकर रहना, सत्य, प्रिय और मित-भाषण, खेल-तमाशा, मादक-वस्तु, नाटक-सिनेमा आदि दुर्व्यसन और दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करना, रोना-रूठना और लड़ाई-झगड़ा नहीं करना एवं हाड़ दाँत सींग लाखकी चूड़ी, चमड़ा तथा नील और मिलके वस्त्र आदि अपवित्र वस्तुओंका सर्वथा त्याग करना—इन बातोंपर विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये।

३०—विधवा स्त्रियोंको काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि दुर्गुणोंका, झूठ कपट चोरी हिंसा व्यभिचार आदि दुराचारोंका, आलस्य प्रमाद खेल-तमाशा ताश-चौपड़ नाटक-सिनेमा मादक वस्तु आदि दुर्व्यसनोंका तथा ऐश-आराम, श्रृङ्गार-शौकीनी, स्वाद, तेल-फुलेल, इत्र-सेंट आदि विलासिताका सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा विषयी, पामर, कुलटा और कुटनी स्त्रियोंके और पुरुषमात्रके संसर्गसे दूर रहना चाहिये। एकान्तमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक जप, ध्यान और स्वाध्यायका अनुष्ठान, ज्ञान, वैराग्य, तप, सदाचार, शौचाचार, परोपकार, मन-इन्द्रियोंका संयम तथा प्रेम और विनय-पूर्वक सबके साथ उत्तम बर्ताव और सबकी सेवा, सत्कार करना चाहिये।

३१—पुरुषोंको स्त्री, पुरुष और बालकोंकी शिक्षा तथा उन्नतिके उद्देश्यसे नित्यप्रति रात्रिमें सबको एकत्र करके गीता, भागवत, रामायण, महाभारत आदि शास्त्रोंका प्रवचन और विवेचन करना, अपनी सामाजिक व्यावहारिक नैतिक धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये नित्यप्रति एकान्तमें विचार करना, अपने व्यापार और आचरणके सुधारके लिये ईश्वरको नित्य-निरन्तर याद रखते हुए स्वार्थका त्याग करके सबके साथ विनय और प्रेमपूर्वक व्यवहार करना, दुखी अनाथ पूज्य और गुरुजनोंकी सेवा तथा निष्कामभावसे प्राणि-मात्रके हितका चिन्तन और उनकी उन्नतिकी चेष्टा करते हुए उनकी सेवा करना एवं दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, दुर्व्यवहार और विलासिताको विषके समान समझकर त्याग करना तथा आत्मोद्धारके लिये बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा, भक्ति, सद्गुण-सदाचार-को अमृतके समान समझकर उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनी चाहिये।

पुरुषोंको विधवा स्त्रियोंकी सेवा-शुश्रूषा, उनकी रक्षा, उनके रुपयोंका ब्याज उपजाना और उनकी जीविकाका प्रबन्ध विशेषरूपसे करना चाहिये तथा उनकी भक्ति, जप, तप, वैराग्य, सद्गुण-सदाचारके साधनमें सहायता करना और उनको किसी प्रकार भी कष्ट न हो, इसपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि विधवा स्त्रीकी दुराशिषसे यह लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।

३२—मनुष्यको नील, लाख, सींग, हाड़, चर्बी और चर्बीमिश्रित पदार्थ, चमड़ा, चपड़ा, मांस, मदिरा, लहसुन, प्याज, डाक्टरी दवाइयाँ और मिल्का कपड़ा—इनको न तो कभी काममें लाना और न इनका व्यापार ही करना चाहिये। तथा मिल, खान, भट्ठा, सट्टा-फाटका, लौह, काठ, रेशम-उसर, जुआ, नाटक-सिनेमा आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिये।

३३—मनुष्यको दो बातोंको सदा याद रखना चाहिये और दो बातोंको सर्वथा भूल जाना चाहिये।

सदा याद रखनेकी दो बातें ये हैं—१—दूसरोंके द्वारा किया गया अपना उपकार और २—अपने द्वारा किया गया किसीका अपकार। क्योंकि दूसरेके द्वारा किये गये उपकारको याद रखनेसे कृतघ्नताका दोष नहीं आता तथा मनुष्य प्रत्युपकार करके ऋणसे मुक्त हो सकता है एवं अपने द्वारा किये गये किसीके अपकारको याद रखनेसे पश्चात्ताप होकर जिसका अपकार किया गया है, उसके प्रति विनय, प्रार्थना और सेवा करनेसे मनुष्य अपराधसे मुक्त हो सकता है।

सर्वथा भूल जानेकी दो बातें ये हैं—१—दूसरोंके द्वारा किया हुआ अपकार और २—अपने द्वारा किया हुआ उपकार। क्योंकि दूसरोंके द्वारा किये हुए अपकारको याद रखनेसे प्रतिहिंसाकी भावनाके कारण उसका अनिष्ट किये जानेकी विशेष गुंजाइश है, इससे अपना पतन होता है और अपने द्वारा किया हुआ उपकार याद रहनेसे वह कभी प्रकट भी किया जा सकता है, जिससे जिसका उपकार किया गया है, उसे दुःख

और लज्जा होती है, अपनेमें अभिमान-अहंकारकी वृद्धि होती है एवं वह किया हुआ उपकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अपनी सब प्रकारसे हानि है।

३४—किसीको अपने अनुकूल बनानेके लिये मनुष्यको दो प्रयोग करने चाहिये। ये दो सर्वमोहन मन्त्र हैं—१. स्वार्थका त्याग करके उसकी सेवा करना और २. उसके दोषोंकी ओर ध्यान न देकर उसके सद्गुण-सदाचारोंकी स्तुति करना। ये दो ऐसे सर्वमोहन मन्त्र हैं कि इनसे ईश्वर, महात्मा, ऋषि-मुनि, देवता तथा मनुष्य सब अनुकूल हो जाते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है, दुष्ट और वैरी भी मित्र बन जाते हैं।

३५—वैराग्य, उपरति और संयम—ये एक दूसरेसे भिन्न हैं तथा इन तीनोंका ही इन्द्रिय, मन और विषयोंसे सम्बन्ध है। संसारके विषय, कर्म, इन्द्रिय और मन आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिके अभावका नाम 'वैराग्य' है तथा उस रागका अत्यन्त अभाव हो जाना 'परम वैराग्य' है।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंकी ओरसे इन्द्रियों और मनकी वृत्तियोंका हट जाना 'उपरति' है तथा उनसे मन-इन्द्रियोंका सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना 'परम उपरति' है। इन्द्रियोंका और मनका सर्वथा साधकके वशमें हो जाना इन्द्रियोंका और मनका 'संयम' कहलाता है; इनमें इन्द्रियोंके संयमको 'दम' और मनके संयमको 'शम' कहते हैं।

इन तीनोंमें वैराग्य प्रधान है; क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होनेसे मन और इन्द्रियोंकी वृत्ति उनसे स्वाभाविक ही हट जाती है तथा मन और इन्द्रियोंका वशमें होना भी सहज है। एवं वैराग्य होनेपर परमात्माकी प्राप्तिके साधन भी सुगम हो जाते हैं, जिससे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। किंतु बिना वैराग्यके केवल उपरति और संयमसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि योगी लोग सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये भी इन्द्रियोंकी और मनकी पदार्थोंमें एकाग्रता और संयम करते हैं, किंतु विषयोंमें आसक्तिके कारण परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं।

३६—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, श्रद्धापूर्वक सत्पुरुषोंका सङ्ग, उनकी आज्ञाका पालन, उनके आचरणोंका अनुकरण, सत्-शास्त्रोंका अर्थ और भावसहित स्वाध्याय, चराचर भूतोंको परमात्माका स्वरूप समझकर उनकी सेवा, परमात्माके नामका जप, उसके स्वरूपका ध्यान, भगवान्‌में अनन्य प्रेम, भगवान्‌की पूजा, भगवान्‌के गुण-प्रभाव-लीलाका मनन, ईश्वर-शास्त्र-महापुरुष और परलोकमें उत्तम श्रद्धा, परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तथा भगवद्भावोंका प्रचार—इन सब साधनोंमेंसे किसी भी एकका रहस्य समझकर श्रद्धा, भक्ति और विवेक-वैराग्यपूर्वक निष्कामभावसे अनुष्ठान किया जाय तो वह एक ही साधन अति शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करा सकता है।

३७—भगवान्‌के नामका जप वाणीकी अपेक्षा श्वाससे करना उत्तम है और श्वासकी अपेक्षा मनसे करना उत्तम है तथा वह भी यदि गुप्त रक्खा जाय अर्थात् प्रकाश न किया जाय तो और भी उत्तम है। उससे भी उत्तम वह है, जो अर्थ और भावसहित किया जाय एवं वही जप श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभावपूर्वक नित्य-निरन्तर करनेपर तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेमें समर्थ है।

३८—श्रद्धा और प्रेमपूर्वक की हुई पूजासे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल,

जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।'

मन्दिरोंमें प्रतिष्ठापित पाषाण और धातु आदिसे बनी मूर्तिकी पूजाकी अपेक्षा अपने-अपने घरोंमें भगवान्‌की पाषाण और धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटकी पूजा करना उत्तम है । क्योंकि मन्दिरोंमें तो पण्डा-पुजारी, महन्त आदि ही पूजा करते, भोग लगाते और आरती करते हैं, हमलोग तो दूरसे केवल दर्शनमात्र ही कर सकते हैं तथा उनमें किसी-किसीके चरित्र भी अच्छे नहीं होते एवं अपने घरमें तो हम स्वेच्छानुसार अपने हाथसे भगवान्‌की मूर्तिकी पूजा कर सकते हैं, भोग लगा सकते हैं और आरती कर सकते हैं । अतः हमें अपने घरमें मूर्ति स्थापित करके अपने बाल-बच्चे, स्त्री तथा बन्धु-बान्धवोंसहित उसकी पूजा करनी चाहिये ।

इससे भी उत्तम वह मानसपूजा है, जो अपने शरीररूपी मन्दिरके अंदर हृदयाकाशमें या अपने सन्मुख बाह्याकाशमें मनसे भगवान्‌की मूर्तिकी स्थापना करके मनसे ही की जाती है अर्थात् मनसे ही भगवान्‌के पत्र-पुष्प, चन्दनादि चढ़ाये जायँ, भोग लगाया जाय, आरती की जाय एवं स्तुति-प्रार्थना आदि की जाय । क्योंकि पाषाण और धातुकी मूर्ति या चित्रपट आदिकी पूजा करते समय मन इधर-उधर चला जाता है, किंतु मानसिक पूजामें तो सारा कार्य मनसे ही होता है, मनके इधर-उधर चले जानेपर सारा काम बंद हो जाता है, इसलिये मनकी वृत्तियाँ पूजामें अवश्य लगानी पड़ती हैं । जो काम मनसे होता है, वही मूल्यवान् है और यह गुप्त भी रह सकता है; क्योंकि बिना बतलाये उसे कोई जान भी नहीं सकता । इससे मनुष्य सहज ही मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और दिखाऊपनसे भी बच सकता है ।

परंतु दान, तप, होम, श्राद्ध, तर्पण, तीर्थ, व्रत, सन्ध्या, बलिवैश्वदेव, माता, पिता, गुरु, अतिथि आदिकी सेवा, सधवा स्त्रियोंके लिये पतिसेवा आदि कर्म केवल मनसे करना निम्नश्रेणीका है; क्योंकि इनको केवल मनसे करनेसे प्राणिमात्रका पूर्णतया हित नहीं हो सकता । अतः इनको तो मन, तन, धन और वाणीसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे करना चाहिये; किंतु जन्म और मरणाशौच यात्रा, असमर्थता और आपत्तिकालमें इनको भी अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये यथोचित मानसिक कर सकते हैं ।

इससे भी मूल्यवान् वह है, जो चराचर सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको साक्षात् परमात्माका स्वरूप समझकर मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवारूप पूजा की जाय । क्योंकि इसमें सर्वदेशीय भगवद्भावना होनेके कारण भगवान्‌की स्मृति सदा-सर्वदा नित्य-निरन्तर रह सकती है ।

परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि समस्त प्राणियोंकी सेवा करनेवालोंको उपर्युक्त दान, होम, श्राद्ध, तीर्थ, व्रत, गुरुजनोंकी सेवा आदि नहीं करने चाहिये । यथायोग्य इनको भी अवश्य करना चाहिये ।

इन उपर्युक्त पूजाओंको श्रद्धा-भक्ति-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करनेपर अति शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है ।

३९—शास्त्रोंमें कहीं भक्तिको, कहीं ज्ञानको, कहीं योगको, कहीं तपको, कहीं गङ्गा-यमुना आदि तीर्थोंको, कहीं एकादशी आदि व्रत-उपवासको, कहीं सेवा-पूजाको, कहीं निवृत्तिमार्गको, कहीं प्रवृत्तिमार्गको तथा कहीं सत्सङ्ग और स्वाध्यायको ही सर्वोपरि बतलाया गया है । अर्थात् भक्तिके प्रकरणमें बतलाया गया है कि उसके समान यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि कुछ भी नहीं है; जिसने एक क्षणमात्र भी परमात्माका ध्यान कर लिया, उसने सब कुछ कर लिया । इसी प्रकार ज्ञान आदिके प्रकरणमें बतलाया गया है ।

इन सब प्रकरणोंको देखनेपर परस्पर एक-दूसरेसे विरोध तथा एककी दूसरेकी अपेक्षा श्रेष्ठता एवं उनकी महिमाकी अतिशयता भी प्रतीत होती है; किंतु इसका रहस्य यह है कि शास्त्रोंमें इनकी जो कुछ महिमा बतलायी गयी है, वह अतिशयोक्ति नहीं है, बल्कि वह उससे भी अधिक है। क्योंकि जो कुछ कहा जाता है, वह वाणीसे ही कहा जाता है और वाणी परिमितका ही वर्णन कर सकती है। पर वास्तवमें इनकी महिमा अपार और अपरिमित है. इसलिये जो कुछ कहा गया, वह अल्प ही है। तथा इनमें जो परस्पर विरोध-सा प्रतीत होता है, वह विरोध नहीं है; क्योंकि जिस विषयका जो प्रकरण होता है, उसको उसके उपासकके लिये सर्वोपरि बतलाना उचित ही है। ईश्वरभक्तके लिये भक्तिको सर्वोपरि बतलानेका यही उद्देश्य है कि वह अपनी चित्तवृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर भक्तिके ही परायण हो जाय; नहीं तो एकनिष्ठ भक्ति कैसे हो सकेगी और विना एकनिष्ठ भक्ति हुए भक्तिका पूर्णतया फल शीघ्र मिलना सम्भव नहीं। भक्तिकी अपेक्षा अन्य साधनोंको न्यून बतलाना दूसरोंकी निन्दाके उद्देश्यसे नहीं है, बल्कि भक्तिकी प्रशंसाके लक्ष्यसे ही है तथा यह प्रशंसा न तो मिथ्या है और न अतिशय ही है।

इसी प्रकार ज्ञान, योग, तप, तीर्थ, व्रत आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। ज्ञानके साधकके लिये ज्ञान, योगके साधकके लिये योग, तपस्या करनेवालेके लिये तप, तीर्थ करनेवालेके लिये तीर्थ और व्रत करनेवालेके लिये व्रत ही सर्वोपरि है। जिस साधनकी जो स्तुति की जाती है, वह उसमें श्रद्धा-प्रेम बढ़ानेके लिये ही की जाती है। साधकके लिये उसके साधनमें श्रद्धा-प्रेम बढ़ानेकी आवश्यकता है और उसके लिये वह उचित भी है। जो जिस साधनको करता है, उसको सर्वोपरि मानकर ही करना चाहिये; क्योंकि सर्वोपरि मानकर करनेसे ही वह साङ्गोपाङ्ग होता है और साङ्गोपाङ्ग होनेसे ही कार्यकी सिद्धि शीघ्र होती है।

४०—श्रीविष्णुपुराणमें श्रीविष्णुको ही सर्वोपरि बतलाया गया और कहा कि संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय श्रीविष्णुसे ही होते हैं; वही साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं; वही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और सर्वश्रेष्ठ हैं, उनसे बढ़कर और कोई नहीं है। इसी प्रकार शिवपुराणमें श्रीशिवको, देवीभागवतमें श्रीदेवीको, गणेशपुराणमें श्रीगणेशको तथा सूर्यपुराणमें श्रीसूर्यको ही सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, पूर्णब्रह्म परमात्मा कहा गया है। इसी प्रकार अन्य सब पुराणोंमें भी इसी तरहका वर्णन आता है। इससे एक दूसरेमें परस्पर विरोध, एक-दूसरेकी अपेक्षा परस्पर श्रेष्ठता तथा उसकी महिमाकी अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। इसका भाव यह है कि जैसे सती-शिरोमणि पार्वतीके लिये केवल एक श्रीशिव ही सर्वोपरि हैं, उनसे बढ़कर और कोई नहीं, और भगवती लक्ष्मीके लिये केवल एक श्रीविष्णु ही सबसे बढ़कर हैं, इसी तरह सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मांको लक्ष्यमें रखकर, सभी उपासकोंको परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति हो जाय, इस दृष्टिसे महर्षि वेदव्यासजीने एक-एक देवताको प्रधानता देकर पुराणोंकी रचना की है। प्रत्येक पुराणके अधिष्ठाता देवताके नाम और रूप परमात्माके ही नाम-रूप हैं—यह भलीभाँति समझ लेनेपर उपर्युक्त शङ्का रह नहीं सकती। किसी भी देवताका उपासक क्यों न हो, उस उपासकको पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप सर्वोपरि फल मिलना चाहिये—यह पुराणरचयिताका उद्देश्य बहुत ही उत्तम और तात्त्विक है। प्रत्येक पुराणमें उसीकी प्रशंसा करनेका प्रयोजन दूसरेकी निन्दामें नहीं है, बल्कि उस उपासककी उस पुराण और देवतामें श्रद्धापूर्वक एकनिष्ठ भक्ति करानेका ही उद्देश्य है और यह उचित भी है। इस प्रकार होनेसे ही साधकका अनुष्ठान

साङ्गोपाङ्ग होकर उसे पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है ।

जितने भी पुराण-उपपुराण हैं, उनके अधिष्ठाता देवताका नाम और रूप (आकृति) भिन्न होते हुए भी लक्ष्य एक पूर्णब्रह्म परमात्माकी ओर रक्खा गया है; क्योंकि गुण, प्रभाव, लक्षण, महिमा और स्तुति-प्रार्थनाका वर्णन करते हुए प्रत्येक देवताको ब्रह्मका रूप बतलाया गया है, इसीलिये एक-दूसरे देवताकी स्तुति परस्पर प्रायः मिलती-जुलती आती है । तथा यह स्तुति पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही घटती है । पुराणोंमें जो पुराणोंके अधिष्ठातृ देवताकी प्रशंसा एवं स्तुति की गयी है, वह अतिशयोक्ति नहीं है; क्योंकि परमात्माकी महिमा अतिशय, अपार और अपरिमित होनेसे उस अधिष्ठाता देवताको परमात्माका रूप देकर जितनी भी उसकी महिमा बतलायी जाय, वह अल्प ही है । वाणीके द्वारा जो कुछ कहा जाता है, वह परिमित ही है अतएव वास्तवमें वाणीद्वारा परमात्माकी महिमा कोई किसी प्रकार भी वर्णन नहीं कर सकता ।

आशय यह है कि जो भक्त जिस देवताकी उपासना करता है, उस उपासकको अपने उपास्यदेवको सर्वोपरि पूर्णब्रह्म परमात्मा मानकर उपासना करनी चाहिये । इस प्रकारकी दृष्टि रखकर उपासना करनेसे ही सर्वोपरि सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि सभी नाम और सभी रूप परमात्माके ही होनेसे वह उपासना परमात्माकी ही उपासना है । अतः परमात्माको लक्ष्य करके किसी भी नाम और रूपकी उपासना की जाय, उसका फल एक पूर्णब्रह्म परमात्माकी ही प्राप्ति होती है । इसलिये मनुष्यको अपने इष्टदेवको पूर्णब्रह्म परमात्मा समझकर उसके नामका जप और स्वरूपका ध्यान नित्य-निरन्तर करना चाहिये ।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४२)

सप्तस्वर्ग-सप्तपातालसमन्वित असंख्य ब्रह्माण्डश्रेणीके प्रधान पालक जब वत्सपाल बने हैं, अपने अनन्त—अपरिसीम ऐश्वर्यको रससिन्धुके अतलतलमें डुबाकर व्रजेन्द्रतनय श्रीकृष्णचन्द्रने, रोहिणीनन्दन बलरामने जब गोशावक-संलालनका व्रत स्वीकार किया है, तब दिनचर्या भी उसके अनुरूप होनी ही चाहिये । इसीलिये यहाँ इस वृन्दावनमें—

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥*

—इस मन्त्रपाठके द्वारा उनका आवाहन नहीं होता; आसन, पाद्य, अर्घ्य, स्नानीय, धूप, दीप, नैवेद्य आदिका विधिवत् समर्पण होकर उनकी आराधना नहीं होती । यहाँ तो रजनीका विराम होनेपर व्रजेश्वरीके सुमधुर मनुहारपूरित सङ्गीतके द्वारा, जननीकी अतिशय प्रेमिल भर्त्सनाओंके द्वारा वे जगाये जाते हैं—

जागो हो तुम नंदकुमार ।
बलि बलि जाऊँ मुखारविंदकी गोसुत मेलो करो सँभार ॥
आज कहा सोवत त्रिभुवनपति और बार तुम उठत सवार ।
बारंबार जगावत माता कमलनयन भयो भवन उजार ॥

× × ×

कौन परी नंदलालें बान ।
प्रात समैं जागनकी बिरियाँ सोवत है पीतांबर तानं ॥

* उन परम पुरुषके सहस्रों (अनन्त) मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं । वे इस सम्पूर्ण विश्वकी समस्त भूमि (पूरे स्थान) को सब ओरसे व्याप्त करके इससे दस अङ्गुल (अनन्त योजन) ऊपर स्थित हैं । अर्थात् वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए उससे परे भी हैं ।

मात जसोदा कबकी ठाढ़ी लै ओदन भोजन घृतसान ।
जागो स्याम कलेऊ कीजै सुंदर बदन दिखाओ आन ॥
संग सखा सब द्वारें ठाढे मधुवन धेनु चरावन जान ।
सूरदास अति ही अलसाने सोवत हैं अजहूँ निसि मान ॥

और फिर जननीका अञ्चल ही उनका आसन होता है । यहाँ यह निश्चित नहीं कि मुख-प्रक्षालन, स्नान, संमार्जन होनेके अनन्तर ही नैवेद्य अर्पित हो । अपने क्रोडमें अञ्चलपर आसीन श्याम-बलरामको निहारकर जननी प्रतिदिन आत्मविस्मृत-सी होती ही है और न जाने कितनी बार संलालनके क्रममें व्यतिक्रम होता है । संलालन कलेऊसे ही आरम्भ होता है । दोनों पुत्रोंको भुजपाशमें बाँधकर जननी स्फुट कण्ठसे मनमाना गीत गाती हुई सर्वप्रथम नैवेद्यका उपहार ही समर्पित करती हैं—

करो कलेऊ रामकृष्ण मिल कहत जसोदा मैया ।

× × ×

उठत प्रात कछु मात जसोदा मंगल भोग देत दोउ छोरा ।
माखन मिश्री दह्यौं मलाई दूध भरे दोउ कनक कटोरा ॥

यह होनेपर फिर स्नान, सम्मार्जन आदि सम्पन्न होते हैं । श्रीकृष्ण-बलरामके श्यामल-गौर श्रीअङ्गोंपर तो नित्य लावण्यकी लहरें उठती रहती हैं । वहाँ मलिनताकी छाया भी नहीं । जहाँ मालिन्य है, वहाँ ही संस्कार-परिष्कृति अपेक्षित होती है । नित्य नव सुन्दरको क्या तो नहलायें, क्या विभूषित करें ।

यह तो यशोदारानीके वात्सल्यसिंधुकी चञ्चल लहरें हैं, जो विविध शृङ्गारसे, आभूषणोंसे वे अपने पुत्रोंको विभूषित करती रहती हैं । ऐसा करना उन्हें आवश्यक प्रतीत होता है । इसीलिये, भ्रान्तिवश ऐसी भूल हो जानेपर, स्नानसे पूर्व ही कलेवा करा देनेपर पश्चात्ताप भी करने लगती हैं; उन्हें भय होने लगता है, ऐसा करनेसे उनके नीलसुन्दरके, अग्रजके शरीरमें व्याधि होनेकी सम्भावना है; उनका अबोध सरलमति नीलमणि आगे चलकर ऐसी अशुचिताका अभ्यासी बन जायगा । जो हो, तात्पर्य यह है कि यहाँ—इस वृन्दाकाननमें वत्सपाल बने हुए सर्वलोकैकपाल राम-श्यामकी अर्चना निराले ढंगसे ही होती है; यहाँ विधि-विधान कुछ नहीं, यहाँ तो जननीके, गोप-सुन्दरियोंके, गोपोंके अन्तस्तलमें प्रवाहित अनाविल प्रेमसिन्धुकी ऊर्मियोंपर ही राम-श्याम निरन्तर नृत्य करते हैं । लहरें जहाँ—जिस ओर जैसे बहा ले जाती हैं, वहाँ ही उसी ओर वैसे ही दोनों बह जाते हैं । अस्तु, अब तो दोनोंका दैनन्दिनी क्रम यह हो गया है—शय्यासे गात्रोत्थान करते ही वे शीघ्र-से-शीघ्र स्नानादि प्रातःकृत्य समापन कर लेते हैं; फिर अत्यन्त अल्प समयमें ही जननीके धराये शृङ्गारको धारण कर लेते हैं और तब प्रातःकालीन भोजन भी अतिशय त्वरासे नन्दभवनमें ही हो जाता है । उसके बाद यहाँ और कुछ नहीं, सब कुछ वनमें तथा असंख्य गोवत्सोंके, गोपशिशुओंके समाजमें । सखाओंसे परिवेष्टित रहकर दिनभर दोनों भाई वत्सचारण करते हुए वनमें ही घूमते रहते हैं—

तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ ।
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४५)

वत्सासुरका उद्धार तो हो ही गया, पर उसके कारण इनके स्वच्छन्द विहारमें कोई बाधा नहीं आयी । वत्सासुरके आनेकी बात अधिकांश गोपोंने, व्रजरानीने जानीतक नहीं । उसी दिन श्रीकृष्णचन्द्रने सखागोष्ठीमें मन्त्रणा कर यह स्थिर कर लिया था—'कोई भी इस घटनाकी बात किसीको न बतावे, अन्यथा मैया वत्सचारणके लिये मुझे वनमें नहीं आने देगी, कम-से-कम सुदूर वनमें नहीं जानेका प्रतिबन्ध तो पुनः लग ही जायगा और फिर हमलोगोंकी स्वच्छन्द क्रीडा नहीं हो सकेगी ।' बालकोंने वैसा ही किया, किसीको कुछ भी नहीं बताया । सदाकी भाँति श्रीकृष्णचन्द्रका वनगमन, वत्सचारण, वनविहार निर्बाध

चलता ही रहा। जनश्रुतिके रूपमें मधुपुरसे यह बात व्रजपुरमें भी आयी अवश्य; पर किसीने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसकी प्रतिक्रिया तो मधुपुरके अधीश्वर कंसपर हुई। जिस क्षण अपने पूर्व गुप्तचरके मुखसे कंसने वत्सासुर-निधनकी बात सुनी, उसे प्रतीत हुआ मानो हालाहल विषकी ज्वाला कर्णरन्ध्रोंके पथसे हृदयमें प्रविष्ट हो गयी। अन्तस्तल झुलस गया। नेत्रोंमें अँधेरा छा गया। अतिशय वेगसे उसने आँखें बंद कर लीं—

कंसस्तु तस्माद्वत्सपादपि वत्सासुरनिर्वासनमपसर्पमुखाद्विषमिव कर्णरन्ध्रस्पर्शमात्रेणान्तःसम्भूय भृशं दृशौ निमीलयामास।

(श्रीगोपालचम्पूः)

इतना ही नहीं, संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ा वह। जीवनमें प्रथम वार इतनी गहरी मूर्च्छा कंसको हुई, मानो वह निष्प्राण हो गया हो। सचमुच बाहरसे जीवनके सभी लक्षण कुछ क्षणके लिये विलुप्त हो गये। मन्त्री दौड़े, अनेकों उपचार आरम्भ हुए, फिर कहीं जाकर उसे किसी प्रकार बाह्यज्ञान हुआ—

तेन दशमीमिव दशां प्रापितः स तु मन्त्रिभिः कथञ्चिद्बहिरवधापितः। (श्रीगोपालचम्पूः)

अब अपेक्षित मन्त्रणा पुनः प्रारम्भ हुई। कंस भीति एवं अतिशय खेदपूर्ण वाणीमें सभासदोंपर अपना मनोभाव प्रकट करने लगा—

हन्त सम्भाविता दम्भान्विता बहवः प्रस्थापिता न तु तैर्भद्रं किञ्चिदपि सञ्चितम्। (श्रीगोपालचम्पूः)

'हाय! एक नहीं, बहुतसे प्रतिष्ठित छद्मवेश धारण करनेवाले भेजे गये; किंतु उनके द्वारा किञ्चिन्मात्र भी हित साधन नहीं हुआ।'

कुछ शब्दोंमें ही कंसराजने परिस्थितिकी गम्भीरता बता दी, पर वह मन्त्रिमण्डल भी तो अपना महत्त्व रखता है। मन्त्रियोंने अपने महाराजमें पुनः नवीन आशा सञ्चारित कर देनेके उद्देश्यसे यह परामर्श दिया—

देव! केवलं बकमत्र बलमवलम्बामहे। यतस्तज्जातावेव दम्भसम्भारा गम्भीरायन्ते॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'स्वामिन्! अब तो बकासुरके बलका ही आश्रय करें, क्योंकि बगुलेकी जाति ही ऐसी होती है, जहाँ दम्भका जाल गहरा बन जाता है।'

सचमुच कंसको बकासुरकी विस्मृति हो गयी थी। मन्त्रियोंने उपयुक्त अवसरपर ही स्मरण कराया। फिर तो उल्लासमें भरकर कंसने इसका अनुमोदन ही किया—

आं आं मम सुहृत्तमः स एव केवलस्तत्र प्रस्थापनाय स्थाप्यताम्।

'हाँ, हाँ! बहुत ठीक, मेरे उस सुहृत्तम बकासुरको ही वहाँ भेजा जाय।'

बकासुरका, बकभगिनी पूतनाका प्रथम मिलन मानो उसकी स्मृतिमें नाच उठा। कंस एवं बक दोनों ही भीषण द्वन्द्व-युद्धमें संलग्न हुए थे। अत्यन्त पराक्रमी बकने कंस-जैसे महाविक्रान्त योद्धाको भी अपने मुखका ग्रास बना लिया था। दुर्धर्ष कंसने भीतर जाकर भी प्रचण्ड पराक्रमसे अपने-आपको उगल देनेके लिये बकासुरको बाध्य तो अवश्य कर दिया, और फिर उठाकर घुमाते हुए उसे पटक देनेमें भी समर्थ अवश्य हुआ, पर बकके अपरिमेय बलकी छाप उसपर पड़ ही गयी। तथा इसीलिये उसी क्षण जब अपने भाईको विपन्न पाकर उसकी बहिन पूतनाने कंसको अपने साथ युद्धके लिये ललकारा तो कंसने यही उत्तर दिया था—

स्त्रिया सार्द्धमहं युद्धं न करोमि कदाचन।
बकासुरः स्यान्मे भ्राता त्वं च मे भगिनी भव॥

(गर्गसंहिता)

'देख, स्त्रियोंके साथ मैं कभी युद्ध नहीं करता। आजसे बकासुर तो मेरा भाई बने और तू मेरी बहिन।'

अस्तु, तबसे बक-बकीका सौहार्द कंसके प्रति अक्षुण्ण रहा। बकी—पूतनाने तो अपने प्राण कंसके

लिये दिये ही। अब बकासुरकी परीक्षाका अवसर था। मन्त्रियोंके मुखसे उसका नाम सुनते ही कंस एक बार पुनः सुख-स्वप्न-सा देखने लग गया, उसे आशा बँध गयी—नन्दपुत्रको बकासुर तो निगल ही जायगा! फिर विलम्ब क्यों? तुरंत ही बकका आह्वान हुआ; वह सभामें उपस्थित हुआ; उसे सारी योजना समझा दी गयी और वह व्रजेशपुत्रको अपने मुखका ग्रास बनानेके उद्देश्यसे चल पड़ा।

इधर श्रीकृष्णचन्द्र भी सदाकी भाँति वत्सचारण करने वन चले। वही त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य है, वही मधुरातिमधुर बाल्यभङ्गिमा है; वैसी ही क्षीरसिन्धुकी उच्छलित तरङ्गों-जैसी गोवत्सराशि आगे-आगे आ रही है, वैसा ही परमानन्दमें निमग्न क्रीडापरायण गोप-शिशुओंका समाज है, अग्रजका संरक्षण है। अपनी बङ्किम चितवनसे वनस्थलीकी शोभा निहारते, हँसते-हँसाते, अपनी वंशीकी मधुर स्वर-लहरीसे वृन्दाकाननको रसप्लावित करते, झूमते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं। चलते-चलते नवतृणास्तीर्ण वनभूमि आ जाती है। वहाँ एक परम रमणीय सरोवर है। सरोवरके सन्निकट मनोहर नव-नवाङ्कुरित तृणराजि है, जो जलका सान्निध्य पाकर सान्द्र स्निग्ध बन गयी है। इस परम सुन्दर वन्य भू-भागको देखकर श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गोवत्सोंको यहीं निवेशित करते हैं, आज यहीं क्रीड़ा होगी—

नवशाद्वलतलमालोकयन् क्वचन जलाशयोपकण्ठे ललितानि नवनवाङ्कुरितानि शष्पाणि पानीयसन्निकर्षसुमेदुराणि समालोक्य वत्सकुलं तत्रैव निवेशयामास। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उल्लासमें भरे राम-कृष्णकी, गोपशिशुओंकी यहाँ प्रथम चेष्टा होती है—अपने-अपने वत्ससमुदायको सरोवरका सुनिर्मल जल पिलाकर तृप्त करना। इतनी दूरसे चलकर आये गोवत्सोंको प्यास लगी ही होगी; श्रीकृष्णचन्द्रको, उनके सखाओंको स्वयं भी जो प्यासकी अनुभूति हो रही है। अतः प्रथम सभी अपने-अपने वत्सकुलको सरोवरमें उतारते हैं; उनके जलपान कर लेनेपर तीर देशमें उन्हें तृण चरनेके लिये उन्मुक्त छोड़ देते हैं। इसके अनन्तर स्वयं उस सुनिर्मल सुमिष्ट जलका पानकर तृप्त होते हैं—

स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ११। ४६)

गोपशिशुओंमें नवस्फूर्तिका सञ्चार हुआ और वे जलाशयके तीरपर लगे दौड़ने। इसी समय सहसा उनकी दृष्टि एक विचित्रकाय जन्तुपर चली जाती है; जलके समीप ही वह जन्तु बैठा जो है। उज्ज्वल वर्ण, अत्यन्त प्रकाण्ड वह सचमुच क्या वस्तु है, बालक यह निर्णय नहीं कर सके! मानो वज्राघातसे एक गिरिशृङ्ग टूट गया हो; टूटकर भूमिपर, उस सरोवरके तटपर ही आ गिरा हो! ऐसे विशालकाय जन्तुको देखकर बालक अत्यन्त भयभीत हो गये—

ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम्।
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ११। ४७)

यह जन्तु और कोई नहीं, वही कंसप्रेरित बकरूपधारी महाबली बक दैत्य है, अपनी घातमें बैठा है—

स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक्।
(श्रीमद्भा० १०। ११। ४८)

किञ्चित् वयस्क एवं साहसी बालकोंने कुछ आगे बढ़कर यह तो जान लिया कि यह एक अत्यन्त विशालकाय बगुला पक्षी है। पर जब उन्होंने उस बकके विस्तारित चञ्चुपुटोंकी ओर देखा तो उनके प्राण सूख गये—

धरणितलमुन्नमयन्निव धरणितलनिहितोत्तरचञ्चुर्दिवमवनमयन्निव द्युतलनिवेशितोर्ध्वचञ्चुश्च

युगपदेव देवदनुजमनुजादिसकलजीवजीवनाकर्षणाय विततायतमहासन्दंशं विवृत्य स्थित इव कालपुरुषः।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'मानो धरणीको उत्पाटित कर ऊर्ध्वदेशमें ले जानेके उद्देश्यसे उसने अपने नीचेकी चोंचको धरातलसे संलग्न कर रक्खा है; एवं स्वर्गको उखाड़कर धरातलपर लानेके लिये ही उसका ऊर्ध्वचञ्चु आकाशमें उठा है। मानो एक साथ देव, दनुज, मानव—समस्त जीवोंके प्राण आकर्षण करनेके लिये विशाल संडासी विस्फारितकर कालपुरुष वहाँ अवस्थित हो!'

गोपबालक भगे अपने प्राणाधार सखा श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर। श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वतः भी दृष्टि उस विशालकाय बककी ओर ही लगी है। दो-एक सहचरोंसे वे उस बककी ही चर्चा कर रहे हैं—

आकारात्पक्षितुल्यः स्याद् व्यापारान्न च पक्षिवत्।
बकः किं नवकः साक्षात् कूटवत् स्थितिरीक्ष्यते॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'भैयाओ! देखो, आकारसे तो वह पक्षीके समान ही लगता है, पर इसकी चेष्टा पक्षी-जैसी नहीं है। क्या यह कोई नवक बक—नयी जातिका बगुला है?* पर्वतशृङ्ग-जैसा प्रतीत हो रहा है।'

इतनेमें आकर गोपसखा उन्हें घेर लेते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी बात पूरी होते-न-होते अतिशय भीतिभरे स्वरमें कई एक साथ ही कहने लग जाते हैं—

सखे! नायं पक्षी। अपि तु सकलानेव नो गिलितुमिव कृतारम्भेण गुरुतरदम्भेन केनापि बकाकृतिना दानवेनैव भवितव्यम्। तदितः पलायनमेवास्माकं पथ्यम्। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे भैया कन्नू! यह पक्षी नहीं है। यह तो हम सबको निगल जानेके उद्देश्यसे आया हुआ, अत्यन्त छद्मनिपुणतासे बगुलेकी आकृति धारण करनेवाला कोई दानव होगा। अतः यहाँसे भाग चलनेमें ही हम सबोंका कल्याण है।'

कुछ गोपशिशु अतिशय त्वरासे बोल उठते हैं—

कैलाशशिखरिशिखरद्राघीयसः शरीरादपि दीर्घदीर्घतराच्चञ्चुपुटादस्य कथं पलायनमपि।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे देखते नहीं! कैलाश पर्वतके शिखरकी अपेक्षा भी इसका शरीर बड़ा है, और इस अतिशय दीर्घ शरीरसे भी इसके चञ्चुपुट दीर्घ—दीर्घतर हैं। इसकी चोंचसे बचकर भागोगे कैसे?'

अपने सखाओंकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंपर मृदु हास्यकी सुन्दर रेखा-सी खिंच जाती है। उस स्मितकी ओटसे सुधा-सीकर झरने लगते हैं। मुखमण्डलका सौन्दर्य, लावण्य निखर उठता है। अमृतस्यन्दी स्वरसे सखाओंको 'नाशङ्कनीयम्'—भयभीत मत होओ, कहकर आश्वासन देते हुए अरविन्द-नयन श्रीकृष्णचन्द्र बकमुखकी ओर भी सन्निधिमें जानेका विचार करते हैं, चल पड़ते हैं। इस समय सर्वज्ञ, सर्ववित्—स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनका यह बाल्यावेश देखने ही योग्य है। उन्हें सब कुछ पता है; यह कौन है, क्या करने आया है, वे सब कुछ जानते हैं। फिर भी मुखकमलपर ऐसा मुग्धभाव है, जैसे उन्हें इस प्रकाण्ड बकपक्षीके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं; इतने सरल मुग्ध शिशुकी भङ्गिमा धारण किये वे बकतुण्डकी ओर अग्रसर हो रहे हैं—

पुण्डरीकलोचनस्तं जानन्नप्यजानन्निव तस्य तुण्डसन्निधिमेव गमनेऽवधिश्चकार।
(श्रीगोपालचम्पूः)

भीतिविजड़ित नेत्रोंसे गोपशिशु अपने प्राणाराम सखाकी यह चेष्टा देखने लगते हैं। अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्रके मुखपर तो भयकी छाया भी नहीं है। उन्हें भय क्यों हो। वे व्रजेन्द्रके वत्सपाल भले ही हों,

---

* अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान्‌के मुखारविन्दसे कूटभाषाकी ओटमें सत्य प्रकट हो गया। 'नवक बक' कहकर उन्होंने संकेत कर दिया—'यह बक नहीं, बकासुर दैत्य है।'

पर हैं तो अखिललोकके अभयदाता ही न ! वे मन्द-मन्थर गतिसे बकके सन्निकट होते जा रहे हैं। उनकी चालसे स्पष्ट है—भय नहीं, अपितु उस बकके प्रति उपेक्षा—अवहेलना है—

अकुतोभयमभयदमखिललोकस्य सहेलमभिमुखमुपसर्पन्तम् ×××।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु आह ! यह क्या हुआ ! अरे वह बक उचका ! श्रीकृष्णचन्द्रके निकट वह सहसा आ गया ! हाय रे ! इस महाबली तीक्ष्णतुण्ड पक्षीने तो नील-सुन्दरको अपने चञ्चुपुटोंमें रख लिया ! आह ! व्रजजीवन नीलमणि बकमुखके ग्रास बन गये—

आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद् बली।

(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४८)

वनविहङ्गम आर्तनाद कर उठे। तरुवल्लरियोंमें बड़े वेगका प्रकम्पन आरम्भ हुआ। वन्यमृगोंमें, कपिदलमें एक विचित्र मर्मभेदी करुण कोलाहल होने लगा। अन्तरिक्षमें समस्त देवसमुदाय चीत्कार कर उठा। तथा राम एवं गोपशिशु ? आह ! प्राण निर्गत होनेपर मृत-देहस्थ चक्षुः आदि इन्द्रियोंकी क्या दशा होती है ? जब उनके प्राणस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र ही उन्हें छोड़कर बक-मुखमें समा गये, तब अग्रजमें, गोपशिशुओंमें रक्खा ही क्या है ? श्रीकृष्णचन्द्रको बगुला निगल गया, नेत्र-गोलकने इतना ही देखा; फिर तो निष्प्राण शरीरके इन्द्रियगोलककी भाँति रामके सहित समस्त गोपशिशु चेतनाशून्य हो गये—

कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः॥

(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४९)

जब बक ग्रस्यौ कुँवर नँदलाल। बल समेत सब ब्रजके बाल॥
भये विचेतन ते तन ऐसैं। प्रान बिना इंद्रीगन जैसैं॥

अवश्य ही अचिन्त्य लीला-महाशक्तिके प्रभावसे प्रत्येक गोपशिशुके नेत्र निमीलित नहीं हुए, ज्यों-के-त्यों खुले रहे तथा नेत्रमें लीलोपयोगी दर्शनशक्ति भी बनी रही। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने-परायेके सुख-दुःखका कोई भान नहीं रहा, अन्य कोई अनुभूति नहीं रही।

अस्तु, अब बककी क्या दशा हुई, यह देखें। बड़े उल्लाससे उसने नन्दपुत्रको ग्रास तो बना लिया। पर क्या वह इन्हें सचमुच निगल सकेगा ? जिनकी एक आंशिक अभिव्यक्तिके लोमकूपमें असंख्य ब्रह्माण्ड धूलिकणकी भाँति विलीन होते रहते हैं, जो जगत्-स्रष्टाके भी स्रष्टा हैं, उन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको क्षुद्रातिक्षुद्र बकासुर उदरस्थ कर ले, यह सम्भव हो सकता है क्या ? यह तो उनकी लीला-रसास्वादनकी अभिनव-पद्धति ही है, जो वे स्वयं बकके मुखमें समा गये हैं। अन्यथा बक उन्हें स्वप्नमें भी स्पर्शमात्र कर ले, यह शक्ति भी उसमें कहाँ ? जो हो, जब वे उसके मुखविवरमें गये हैं, तो अग्रिम लीलाक्रम भी होगा ही, श्रीकृष्णचन्द्र उससे खेलेंगे ही, खेलने ही लगे। यह देखो—अग्निज्वालाकी भाँति उत्ताप उसके तालु-मूलमें, कण्ठदेशमें सृष्ट हो जाता है ! उनके परम शीतल शन्तम श्रीअङ्गोंका स्पर्श ही असुरके तालुमूलमें असह्य प्रदाह उत्पन्न कर देता है। इतनी, ऐसी भीषण जलन होती है, मानो उसने भ्रान्तिवश एक ज्वलन्त लौहपिण्ड ही अपने चञ्चुपुटोंसे उठा लिया हो। श्रीकृष्णचन्द्रकी यह क्रीड़ा कितनी विचित्र है ! जिनका एक नाम एक बार जिह्वाग्रपर आते ही नरककी भीषण ज्वाला सर्वथा शान्त हो जाती है उनके ही परम शीतल चरणसरोजका स्पर्श पाकर बकका कण्ठ जलने लगता है ! उसे इतनी असह्य वेदना होती है कि वह व्रजेन्द्रनन्दनको उगल देनेके लिये बाध्य हो जाता है, तुरंत उसी क्षण उन्हें उगल ही देता है। श्रीकृष्णचन्द्र बाहर आ जाते हैं। बकको विश्वास था—कण्ठ भले ही जले, पर उगलनेपर श्रीकृष्णचन्द्र तो निष्प्राण मांसपिण्ड ही बनकर उसके

मुँहसे निकलेंगे; किंतु इससे विपरीत वे तो सर्वथा अक्षत निकले। बकके क्रोधकी सीमा नहीं रहती। अतिशय रोषमें भरा अपने चञ्चुप्रहारसे श्रीकृष्णचन्द्रको प्राणशून्य कर देनेके लिये वह पुनः उनके समीप आ जाता है—

तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद्
गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बक-
स्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५०)

मूर्च्छित हुए उन गोपशिशुओंके विस्फारित नेत्र यह सब देख रहे हैं। तथा जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्र बकके मुखसे बाहर निकले, उसी क्षण उन्हें अक्षत देखकर समस्त बालकोंकी ज्ञानशक्ति भी लौट आती है। पर क्रियाशक्ति अभी भी ज्यों-की-त्यों सुप्त है। जो हो, इधर श्रीकृष्णचन्द्रकी बकक्रीड़ाका उत्तर-अंश आरम्भ हो जाता है। भक्तगण-परिपालकने, देववृन्दोंके आनन्दविधायकने दृश्य बदल देना चाहा। अतः अब विलम्ब नहीं। यह लो, देखो, यशोदाके नीलमणिका दूसरा खेल! वे अत्यन्त निकट आ जाते हैं और बक दैत्यके दोनों बृहत् चोंचोंको अपने नन्हें करपल्लवोंसे बलपूर्वक पकड़ लेते हैं। और फिर क्षणार्ध भी नहीं लगता, मानो वह बक दैत्य ग्रन्थिहीन एक तृणविशेष हो—इस प्रकार अनायास उसे बीचसे चीर डालते हैं—

तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयो-
र्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां पतिः।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया
मुदावहो वीरणवद् दिवौकसाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५१)

प्रभु लीला आसक्तमें लखि सिसु दुखी अपार।
कर-कमलनसों चोंच गहि करे फका द्वै फार ॥

आकाशसे सहस्र-सहस्र कुसुमोंकी वृष्टि होने लगती है, आनन्दप्रमत्त देवगण नन्दनकाननसे राशि-राशि जाती, यूथी, मधुमालती, चम्पक, नागेश्वर, मल्लिका आदि कुसुमोंका चयन कर श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंपर वर्षा कर रहे हैं। वहाँकी समस्त वनस्थली दिव्य सौरभ-मय प्रसूनोंसे सम्पूर्णतया आस्तृत हो जाती है। साथ ही आनक, शङ्ख आदि दिव्य वाद्योंकी ध्वनिसे, देवकृत स्तवपाठके सुमधुर नादसे अन्तरिक्ष पूरित होने लगता है। पुनः-पुनः पुष्पवर्षण, वाद्यवादन, श्रीकृष्णस्तवनसे देवसमाज अपने त्राताकी आराधना करके भी आज अघाता जो नहीं। यह सब देख-सुनकर गोपशिशुओं-को अतिशय विस्मय होने लगता है—

तदा बकारिं सुरलोकवासिनः
समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः।
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवै-
स्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५२)

किंतु अब वे देवोंके गान-वाद्यकी ओर देखें, यह समय नहीं रहा है। उनके प्राणाधार श्रीकृष्णचन्द्र बकासुरके कराल मुखसे मुक्त होकर उनके समीप आकर खड़े जो हो गये हैं। फिर तो जैसे मृत शरीरमें पुनः प्राण लौट आये हों, इस प्रकार एक साथ राम आदि सभी शिशुओंमें क्रियाशक्तिका सञ्चार हो गया। इतना ही नहीं, उनका रोम-रोम उत्फुल्ल हो उठा। एक साथ सभी उठे, सबने श्रीकृष्णचन्द्रको अपने भुजपाशमें बाँध लिया। ओह! इस मिलनके समय जिस सुखकी अनुभूति इन गोपशिशुओंने की, उसे कौन बतावे? कैसे बतावे?

मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका
रामादयः प्राणमिवेन्द्रियो गणः।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः
.... ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५३)

दो खण्डोंमें विभक्त बकका मृत शरीर सामने पड़ा है। स्वयं तो वह अनादि संसृतिके, भवप्रवाहके उस पार बहुत दूर जा पहुँचा है—

तदा मृतस्य दैत्यस्य ज्योतिः कृष्णे समाविशत् ।
(गर्गसंहिता)

'उस मृत दैत्यकी ज्योति श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंमें प्रविष्ट हो गयी ।'

सिद्ध तपोधन जाजलिकी बात आज सत्य हो गयी है । सुदूर अतीतका इतिवृत्त है । यही बक हयग्रीव-पुत्र उत्कल दैत्य था । सुरराजका राजच्छत्र छीनकर, अनेक मर्त्य नरपालोंका राज्य अपहरण कर शासक बना था । एक दिन यह दुर्मदान्ध उत्कल असुर-समुदाय साथ लिये सिन्धुसागरके सङ्गमपर तपोनिधि जाजलिकी पर्णशालाके निकट जा पहुँचा । आश्रमकी मनोहर शोभाकी ओर इसकी दृष्टि नहीं गयी । इसने तो चञ्चल लहरियोंपर निर्भीक खेलते हुए मत्स्योंके प्राण लेने आरम्भ किये । बारंबार बडिश (मछली पकड़नेकी बंसी) फेंककर वह मत्स्योंको जलके बाहर खींच लेता; उनकी हत्यामें ही उसे रस आ रहा था । जाजलिने विनम्र शब्दोंमें निवारण किया । पर कौन सुनता है ! आखिर मुनिसत्तम जाजलिके नेत्रोंमें रोषकी छाया-सी आयी । उनके मुखसे निकल पड़ा—'दुर्मते ! बककी भाँति ही तो तू इन मत्स्योंका आहार करता है न ? अच्छा जा, तू बगुला ही हो जा ।' और तत्क्षण ही उत्कल तेजोभ्रष्ट होकर बक पक्षीके रूपमें परिणत हो गया । अब तो मदशून्य उत्कल जाजलिके चरणोंमें जा गिरा । मुनिका स्तवन करने लगा । जाजलि रुष्ट थोड़े ही थे; द्रवित हो गये और कह दिया—'वैवस्वत मन्वन्तर आयेगा, उसके अट्ठाईसवें द्वापरका अन्त आनेपर परिपूर्णतम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र ही वृन्दाकाननमें वत्सचारण करते हुए विचरण करेंगे । उस समय श्रीकृष्णचन्द्रमें तुम्हें तन्मयताकी प्राप्ति होगी । इसमें तनिक भी संशय नहीं ।' अस्तु, अश्रद्धा, अनादरपूर्वक एवं ऐसे अशुभ निमित्तसे प्राप्त महत् सङ्गका यह महान् फल उत्कलको मिला ! कदाचित् श्रद्धा होती, आदर होता, दैवी सम्पदाका संबल साथ होता, फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र उसे क्या देते, यह बताना कठिन है !

जो हो, इस समय गोपशिशुओंके प्राणोंमें कुछ ऐसा, इतना उत्साह है कि स्वयं वाग्वादिनी भी उसे चित्रित नहीं कर सकतीं । आज उद्दाम क्रीड़ा नहीं, आज तो वन्य पुष्पोंसे, नन्दनकाननके उन मल्लिका, यूथी, वैजयन्ती कुसुमोंसे, रक्त, पीत, उज्ज्वल, हरिताभ वनधातुओंसे श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंको सुसज्जित करनेकी और फिर उन्हें अङ्कमें भरनेकी होड़ लग रही है । आज उन सबकी बाल्योचित प्रतिभा भी सहसा इतनी विकसित हो गयी है कि देखकर आश्चर्य होता है । अपने प्राणसखाके शौर्य-वीर्यकी प्रशंसा करते-करते वे सब न जाने क्या-क्या कर रहे हैं । पर कुछ भी असंबद्ध, असङ्गत नहीं, आज तो उनकी प्रत्येक उक्ति परम सत्यका निदर्शन बनती जा रही है । इस उमङ्गके प्रवाहमें दिन तो कबका ढल चुका है । वनसे प्रवाहित समीर सन्ध्याकी सूचना देने आ गया है । श्रीकृष्णचन्द्र गोवत्सोंको एकत्र कर व्रजकी ओर चल भी पड़ते हैं । बालक भी साथ-साथ चले जा रहे हैं; किंतु इनका उत्साह शिथिल नहीं हो रहा है । आज प्रथम अवसर है कि प्रत्येक आभीर-शिशुके नेत्र आनन्दातिरेकसे रह-रहकर छलक उठते हैं । अपने मनकी बात श्रीकृष्णचन्द्रको सुनाते समय तो उनके दृगोंसे अश्रुका निर्झर झरने लगता है—

बका बिदारि चले ब्रजकौं हरि ।
सखा संग आनंद करत सब, अंग-अंग बन-धातु चित्र करि ॥
बनमाला पहिरावत स्यामहिं बार-बार अँकवार भरत धरि ।
कंस निपात करौगे तुमहीं, हम जानी यह बात सही परि ॥
पुनि-पुनि कहत धन्य नँद-जसुमति, जिनि इनकौं जनम्यौ सो धनि घरि ।
कहत इहै सब जात सूर प्रभु, आनँद आँसु ढरत लोचन भरि ॥

भारतीय संस्कृति और धनोपार्जन

(लेखक—स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी परिव्राजक)

आजके इस आत्यन्तिक अर्थ-युगमें धनका महत्त्व किसीसे छिपा हुआ है—यह नहीं कहा जा सकता। छोटेसे लेकर बड़ेतक सभी उसके महत्त्वसे परिचित हैं। चारों ओरसे कर्णरन्ध्रोंको गुञ्जायमान करती हुई यही ध्वनि आ रही है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतिमान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते॥

'जिसके पास धन है वही कुलीन है, उसकी सभी स्तुति करते हैं, वही पण्डित है, वही अनुभवी है, वही गुणज्ञ है, वही वक्ता है—उपदेशक है और वही दर्शनीय—रूपवान् भी है। सभी गुण कञ्चनके आश्रित हैं।'

अर्थका जीवनमें एक विशेष स्थान है और अर्थके विना धर्म तथा कामका साधन कठिनतासे सम्पन्न होता है—यह सत्य है। पर आजकी स्थिति विकट है। हमारी विलासपूर्ण आवश्यकताएँ अत्यधिक बढ़ गयी हैं, जिनके परिणामस्वरूप आलस्य, अकर्मण्यता, दीर्घसूत्रता, दरिद्रता तथा दुर्व्यसन दिन-प्रतिदिन वृद्धि पा रहे हैं। फलतः अन्याय, अत्याचार, अनाचार, पापाचार और दुराचारका बोलबाला हो रहा है। यह सब हमारे बन्धन, क्षय और विनाशकी सूचना दे रहे हैं। अतएव आवश्यकता है कि हम अपनी भारतीय संस्कृतिद्वारा निर्दिष्ट धनोपार्जनके वैध साधनोंको प्रयोगमें लायें और अकर्मण्यता, निर्धनता, दरिद्रता एवं परस्वत्वापहरणकी प्रवृत्तिको रोककर आदर्श उपस्थित करें। जो व्यक्ति आलस्य, अकर्मण्यता, कायरता तथा दैव-दैव चिल्लाना छोड़कर भगवान्के भरोसे पुरुषार्थको अपनाता है वह शीघ्र ही भाग्य-लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है; किंतु जो हतोत्साही, अदूरदर्शी, अनुद्योगी और अविचारवान् है, वह प्रमाद और आलस्यके वशीभूत होकर दूसरेके मुँहकी ओर ताका करता है। ऐसे परावलम्बीको धन, ऐश्वर्य और विभूतिके दर्शनतक नहीं हो पाते, प्रस्तुत वह नाना व्याधियोंसे ग्रस्त रहता है।

विवेक, विचार, अध्यवसाय, सात्त्विक नीति और स्वधर्मयुक्त साधनोंद्वारा जो धन अर्जित किया जाता है, उसके उपभोगसे अक्षय सुख, शान्ति और नित्य तृप्ति होती है एवं इस प्रकार शुद्ध जीविकाके द्वारा उपार्जित द्रव्यसे देवता और पितर महाप्रमुदित तथा अक्षय कालतक तृप्त रहते हैं। इसके विपरीत अधर्म, असत्य, अन्याय, चोरी, परपीड़न, परस्वत्वापहरण आदिसे जो द्रव्य आता है वह मनुष्यको दुराचारमें प्रवृत्तकर शीघ्र नष्ट कर देता है। नीतिकारने कहा है—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

'अन्याय, छल, कपट, चोरी, बेईमानी, रिश्वत या काले कारनामोंसे जो धन संग्रह किया जाता है, वह दस वर्ष ही ठहरता है और ग्यारहवाँ वर्ष प्राप्त होते ही धन कमानेवालेकी वृत्तियोंमें आलस्य, प्रमाद, दुर्व्यसन, अहंकार, असन्तोष एवं उच्छृङ्खलता आदि दोषोंको उत्पन्न करके विभिन्न मार्गोंसे शीघ्र ही समूल नष्ट हो जाता है।' इस अल्प एवं क्षणभङ्गुर जीवनके लिये ईश्वरपर अविश्वास करके पाप एकत्र करना बुद्धिमत्ता नहीं है। आय तो उतनी ही होगी जितनी होनी है। असत् संकल्प और अध्यवसायसे पाप अवश्य बढ़ जायगा। पापका द्रव्य ठहरता नहीं; इधरसे आता है, उधरसे चला जाता है। अर्थात् अन्यायोपार्जित द्रव्य राजदण्डमें, अग्नि-प्रकोपमें, व्याधिमें, विविध व्यसनोंमें एवं ऐसे ही अन्य उपद्रवोंमें शीघ्र नष्ट हो जाता है; बन्धु-बान्धव बलात् अपहरण कर लेते हैं अथवा मनुष्य स्वयं दुराचारी बनकर धनका अपव्यय कर देता है। यह आज प्रत्यक्ष हो रहा है। धन अपने पास जितना रहना होता है, उतना ही रहता है। व्यर्थ ही मनुष्य धन आता देख मोहित हो जाता है। उसे इस बातका ज्ञान ही नहीं है कि जिस प्रकार प्रेत-पावक प्रकट-अप्रकट दोनों अवस्थाओंमें दुःखका हेतु होता है, ठीक उसी प्रकार धन अभाव, स्थिति और विनाश सभी अवस्थाओंमें दुःखप्रद ही है। सारांश यह कि अधर्मसे धनोपार्जनकी कामना बड़ी ही भ्रममूलक है; इससे धन तो एकत्र होता नहीं, आत्माका पतन अवश्य हो जाता है।

कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा होती है कि अन्यायसे धन उपार्जन करके फिर उसका दान कर देंगे। वे सोचते हैं और कहते हैं—'ऐसा करनेपर हम यहाँ तो सहजहीमें यशस्वी, धर्मात्मा, पुण्यात्मा और सुकृतात्मा बन जायँगे;

रही परलोककी बात, सो इस जीवनके बाद देखा जायगा।' वे ऐसा कहते ही नहीं, कार्यरूपमें इसे चरितार्थ करते हैं और इस प्रकार आसुरी स्वभावके बनकर स्वार्थ-साधनमें सदैव तल्लीन रहते हैं; किंतु ऐसे व्यक्तियोंसे हमारी प्रार्थना है कि कीचड़ लगाकर उसे धोनेकी अपेक्षा, दूरसे ही उसका त्याग करना परम श्रेयस्कर है। दूसरे, भगवान्के यहाँ अंधेर नहीं है। वहाँ सबकी सच्ची परख होती है और शुभाशुभ कर्मका फल निश्चित रूपसे भोगना पड़ता है। न तो वहाँ खाली हाथ—बिना पुण्यार्जन किये—जानेसे कार्य बनता है, न वहाँ चोरीसे कमायी हुई थैली काम आती है और न किसीकी सिफारिश या अनुरोधसे ही काम चलता है। वहाँ रंक और राजा, बुद्धिमान् और मूर्ख, शिक्षित और अशिक्षित—सभीके साथ समान न्याय होता है। इसीलिये तो भगवान्का एक नाम दयालु और न्यायकारी भी है। सारांश यह है कि अधर्मसे अर्जित धन स्थिर नहीं रह सकता। अतएव धन-संग्रहके लोभमें परम्पराप्राप्त धर्मका लोप कदापि नहीं करना चाहिये। परम भक्त रहीमने स्पष्ट कहा है—

रहिमन वित्त अधर्मको, जरत न लागै बार।
चोरी करि होरी रची, भई तनकमें छार॥

वस्तुतः भारतीय संस्कृतिके आधारभूत साधनोंद्वारा अर्जित धन ही सच्चा धन है और विशाल तृष्णावाला प्राणी ही वास्तवमें दरिद्री है। जबतक मनुष्यको सन्तोष प्राप्त नहीं होता, तबतक कोट्यवधि धनराशि प्राप्त होनेपर भी उसकी दरिद्रता नहीं जाती। 'सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्'—जिसका मन सन्तोष-धनसे परम शान्त हो गया है, उसके लिये जगत्की सम्पत्ति सर्वत्र प्राप्त है; किंतु इसके विपरीत जो मनुष्य धर्म, नीति और मर्यादाको त्यागकर अन्यायसे धन-प्राप्तिकी अभिलाषा करता है, वह लोकमें पतित होकर क्षुद्रताको प्राप्त होता है—

यो हि धर्मं परित्यज्य भवत्यर्थपरो नरः।
सोऽस्माच्च हीयते लोकात् क्षुद्रभावं च गच्छति॥

धन-प्राप्तिके लिये आज देशमें बड़ी शोचनीय स्थिति उपस्थित है। प्रायः सभी मनुष्य छल-कपट, दम्भ-पाखण्ड, लूट-मार, मिथ्या व्यवहार आदि माया-जालका आश्रय लेकर अन्याय-पूर्वक धन-संग्रह करनेमें संलग्न हैं। धर्म-मर्यादाका सर्वथा उल्लङ्घन हो रहा है। न तो आज लोगोंको दूसरेकी धरोहर और रक्षित-सम्पत्ति हड़पनेमें भय है और न दूसरेका न्याय्य स्वत्व अपहरण करनेमें लज्जा है। बलात् धन-अपहरणकी चेष्टा—दिनदहाड़ेकी डकैती तो आज सभ्यता या सिद्धान्तके रूपमें गिनी जाने लगी है। लोग अनेकों प्रकारके प्रपञ्च रचकर एक-दूसरेको नीचा दिखानेकी कुचेष्टामें अहर्निश संलग्न हैं। यद्यपि इन सब घृणित चेष्टाओंसे समस्त प्राणियोंमें, सम्पूर्ण समाज और देशमें त्राहि-त्राहि मची हुई है, सभी सशङ्कित, भीत तथा दुःखमय जीवन बिता रहे हैं; परंतु कोई किसीकी सुनतातक नहीं, सभी अपनी मोहमयी धुनमें मस्त हैं। बस, एक ही चिन्ता लगी है, धन आये फिर वह किसी भी प्रकारसे आये। दूसरोंका चाहे सर्वनाश हो जाय, समाज चाहे रसातलको चला जाय, इसकी किसीको कुछ भी चिन्ता नहीं है। सभी एक-दूसरेका धन और अधिकार छीनने-लूटने और हड़पनेमें लगे हैं। फलतः सभी दुखी हैं, सन्त्रस्त हैं। पर किसीको कुछ भी सूझता नहीं। साँपके मुँहमें पड़ा हुआ मेंढक जैसे मक्खियोंको मारनेमें लगा रहता है, वैसे ही मौतके मुँहमें पड़ा हुआ मानव आज दूसरोंको मारनेमें संलग्न है। यह कितनी दयनीय और शोचनीय स्थिति है। क्षणिक भोगोंके लिये धर्म, सभ्यता, संस्कृति, समाज और ईश्वरका इतना तिरस्कार !! जहाँकी सभ्यताका आदर्श था पर-धनको मिट्टीके समान और पर-स्त्रीको माताके समान समझना—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।'

—वहाँके लोग आज दूसरोंका धन अपहरण करनेमें सभी प्रकारके अवैध उपायोंको काममें ला रहे हैं! यह कितने महान् दुःखकी बात है !!

सचमुच आजकी स्थिति बड़ी भयानक है। इस समय हमें अपनी प्राचीन संस्कृतिकी ओर देखना चाहिये। वही हमें ऐसे अन्धकारमें भी मार्ग-प्रदर्शन कर सकती है। अतएव हमें आधुनिक अर्थवादके चकाचौंधमें न पड़कर अपनी उस प्राचीन संस्कृतिका आश्रय लेना चाहिये, जिसने सदैव हमारा तथा विश्वका कल्याण किया है। अपनी प्राचीन संस्कृतिको नगण्य बताकर उसकी उपेक्षा करना तो प्रत्यक्ष कृतघ्नता है।

हमारा प्राचीन साहित्य आज भी हमें नव-चेतनाका सन्देश देकर उद्बोधित कर रहा है—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

'न कर्मसे, न प्रजा-सन्ततिसे, न धनसे, अपितु एकमात्र (भोगोंके) त्यागसे ही मनीषी विद्वानोंने अमृतत्व

प्राप्त किया है ।' वास्तवमें स्वधर्मयुक्त विशुद्ध जीविकाके द्वारा अर्जित धनको परोपकारमें—भगवत्सेवामें निष्कामभावसे उत्सर्ग कर देना ही भारतीयताका आदर्श है ।

आज प्रायः सभी लोग चोरबाजारी और रिश्वतखोरी रोकनेके लिये लंबे-लंबे व्याख्यान दे रहे हैं; किंतु सुनता कोई नहीं । सुने भी कौन और कैसे; अधिकांश व्याख्यानदाता स्वयं उसी समुदायमें सम्मिलित हैं । उसी शिक्षाका प्रभाव पड़ा करता है जो स्वयं आचरणमें लायी जाती है, यह सिद्धान्त है । अतएव आवश्यकता इस बातकी है कि हमलोग पहले अपना सुधार करें, तब समाजके सुधारमें लगें; नहीं तो मलिन अन्तःकरणके द्वारा हम समाजकी गंदगीको घटानेकी अपेक्षा बढ़ायेंगे ही ।

यथार्थ भारतीय भावना-भावित व्यक्तिके वात, पित्त, कफ आदि धातु सदैव साम्यावस्थामें रहते हैं और वह तितिक्षा, दया, उदारता, त्याग, परोपकार और उद्योग आदि सत्त्वगुणयुक्त अनेक गुणोंका प्रसार नित्य ही किया करता है, जो समाजके पोषण एवं वर्द्धनके लिये अनिवार्य है । इन दैवी लक्षणोंद्वारा हिंसा, परपीड़न, कठोरता, चोरी और परस्वत्वापहरणकी आसुरी वृत्तियोंका सहजहीमें निर्वासन हो जाता है; किंतु विदेशी शिक्षा एवं सभ्यतासे प्रभावित हमारे ही कुछ भाई 'हिंदू-कोड' जैसे कानून बनाकर हमारी प्राचीन संस्कृतिको नष्ट-भ्रष्ट करनेको जा रहे हैं, जो सर्वथा अक्षम्य और अन्याय है । सर्वप्रेरक, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिसे प्रार्थना है कि वे इन परकीय भावना-भावित व्यक्तियोंको सद्बुद्धि दें, जिससे ये अपनी भारतीय संस्कृति न भूलें ।

हमारा लक्ष्य

(लेखक—श्रीभगवानदासजी झा 'विमल' एम्० ए० (हिन्दी-दर्शन), बी० एस्सी०, एल्० टी०, 'साहित्यरत्न')

इस अखिल विश्वके समस्त प्राणियोंमें मानव सर्वश्रेष्ठ है । सृष्टिकर्ताने मानो दैवी-विभूति और पशु-प्रवृत्ति दोनोंके अद्भुत मिश्रणसे मानव-सृष्टिका सृजन किया । मानव और अन्य प्राणी कई बातोंमें एक दूसरेके समान हैं । भोजन करना, सोना, डरना, मैथुन करना आदि चेष्टाएँ सामान्यरूपसे प्राणिमात्रमें पायी जाती हैं; किंतु मानव एक बातमें अन्य प्राणियोंसे भिन्न है । वह यह है कि मानवमें विवेक-शक्ति पायी जाती है, जिसका अन्य प्राणियोंमें अभाव है । अपनी इस विवेक-शक्तिके आश्रयसे मानव ईश्वरके अस्तित्वका अनुभव कर सकता है, उसके समीप पहुँच सकता है और अन्तमें उससे तादात्म्य लाभ कर सकता है; किंतु दूसरी ओर इसी विवेक-शक्तिके अभावमें अथवा उसके दुरुपयोगसे मानव दानवी चेष्टाओंके रूपमें अनेक घृणित कार्यतक कर सकता है । मानव अपनी मानवताको मारकर दानव, असुर या पिशाच बन जा सकता है । विवेक-शक्तिके अभावको ही नैतिक-पतनकी संज्ञा दी जाती है । आदिकालसे प्रत्येक प्राणी इस सृष्टिका दर्शन करता आ रहा है । सामान्य प्राणियोंने सृष्टिको साधारण रूपमें लिया, उसमें उन्होंने कोई नवीन आकर्षण नहीं पाया—वे अपनी साधारण स्थितिमें ही सन्तुष्ट रहे । परंतु मस्तिष्ककी तर्क-शक्ति और हृदयकी भावनाओंका प्रतीक मानव अपनी वर्तमान स्थितिमें सन्तुष्ट न रह सका । उसकी अन्तःप्रेरणाओंके वेगने उसे चञ्चल बना दिया । वह सृष्टिको अधिक विवेकमय और अनुभव-पूर्णरूपमें देखनेके लिये व्याकुल होने लगा । उसने अपनी समस्त मानसिक और भावनात्मक शक्तियोंसे सृष्टिके ज्ञान-भाण्डारकी वृद्धिमें सक्रिय सहयोग देना आरम्भ कर दिया । वह स्वयं प्रश्न करने लगा—'यह सब क्या है ? क्या इसके पीछे कोई रहस्य छिपा हुआ है ?' ये और इसी प्रकारके अनेक प्रश्न उसकी जिज्ञासामयी प्रवृत्तिको झंकृत करने लगे । इस अवस्थामें उसे न दिनको विश्राम मिलता था और न रातको नींद आती थी । साधारण अवलोकनसे उसे ज्ञात हुआ कि विश्वमें प्रत्यक्ष रूपसे पाये जानेवाले अव्यवस्थित बाह्य उपकरणोंमें भी एक आन्तरिक अप्रत्यक्ष व्यवस्था है । सृष्टिके समस्त उपकरण किसी अदृश्य शक्तिके संकेतपर एक दूसरेसे व्यवस्थितरूपमें सम्बन्धित हैं । उनमें अनावश्यक आवेग नहीं, उनमें अवाञ्छनीय विद्रोह नहीं, उनमें क्रान्तिकारी कटुता नहीं, उनमें अनैतिक चेष्टाएँ नहीं, एवं उनमें वैमिम्यजन्य ईर्ष्या नहीं । इस बाह्य अवलोकन-के पश्चात् उसने अपने अन्तरका अवलोकन किया और अपने अंदर भी मानसिक क्षेत्रमें उसने इसी प्रकारकी सुव्यवस्था पायी । अब उसकी जिज्ञासा और वेगवती हो गयी । उसके मस्तिष्कमें अनेक संशय उत्पन्न होने लगे और एक बार

फिर उसका मस्तिष्क-सागर इन विचार-तरङ्गोंसे उद्वेलित होने लगा—'इन मानसिक और भौतिक विधानोंके पीछे क्या कोई रहस्यमयी शक्ति छिपी हुई है ?' अन्तरात्मासे उत्तर मिला—'निश्चित ही इन विधानोंको नियन्त्रित करनेवाली एक रहस्यमयी शक्ति है । हे मानव ! तू अपनी विवेक-शक्तिसे उसका पता लगा । क्या अन्य प्राणियोंके समान तू भी चुपचाप बैठा रहेगा ?'

मानवको ठेस पहुँची । उसने सक्रियमार्गका अवलम्बन करना प्रारम्भ कर दिया । उसने अपने अनुसन्धानात्मक मार्गको दो श्रेणियोंमें विभाजित किया—एक मार्गसे वह भौतिक विश्वके अनुसन्धानमें लगा और दूसरेसे वह मानसिक क्षेत्रके उद्घाटनमें तत्पर हुआ । प्रथम मार्गसे उसे अनेक सत्यताएँ अवगत हुईं, जिनका सारात्मक निष्कर्ष यह था कि प्रकृति अचिन्त्य सौन्दर्यका सञ्चित कोष है । प्रकृतिके इस सौन्दर्यने मानवको इतना अधिक आकर्षित कर लिया कि वह अपने अनुसन्धानमार्गकी गति ही भूल बैठा । सौन्दर्यकी भावनासे उसका हृदय ओतप्रोत हो गया और शनैः-शनैः यह भावना सौन्दर्य-प्राप्तिकी तृष्णाके रूपमें प्रस्फुटित होने लगी । सौन्दर्य-तृष्णा इन्द्रियजन्य सुखका रूप धारण करने लगी और इसका अन्तिम रूप वासनामय सौन्दर्य ही हो गया । इस विलासकी पूर्तिमें मानव स्वार्थी बन बैठा, क्योंकि वह सब कुछ भूलकर केवल वासना-सागरमें ही गोते लगाने लगा । वास्तवमें यह मानवकी सुन्दर चेष्टाओंकी नैतिक मृत्यु है । ओह ! भौतिक विश्व-सम्बन्धी बाह्य सत्यताएँ ही आजकी मानवताके लिये अभिशाप बन बैठीं । विश्वके 'सभ्य राष्ट्रों' ने इन्हीं सत्यताओंका आश्रय ग्रहण करके विश्वमें विनाशका बीड़ा अपने हाथमें उठा लिया । वैज्ञानिकक्षेत्रतरु अनेक अनुसन्धानों और आविष्कारोंसे पल्लवित होने लगा । भौतिकताका प्राबल्य हो गया । सृष्टिका गँवारू रूप विज्ञानमय चित्ताकर्षक रूपमें परिणत हो गया । मानव भोग-विलासकी प्रचुर सामग्रीसे लिप्त हो गया । आशा तो यह थी कि विज्ञानमयी सृष्टिकी ये नूतनताएँ विश्वके व्यापारोंको सुचारु और सुव्यवस्थित रूप प्रदानकर सृष्टिमें शान्ति स्थापित करेंगी, किंतु भौतिकताके भँवर-जालमें पड़कर वह सत्य सत्य न रहकर 'असत्य' और 'अनैतिक' बन गया । मानवताके आदर्शोंकी प्रस्थापना न हो सकी । दानवी शक्तियों एवं पाशविक वृत्तियोंने मानवताको रौंद डाला, कुचल डाला ! मनुष्यकी विवेक-शक्तिके दुरुपयोगका यह अवश्यम्भावी परिणाम था ।

दूसरे मार्गका क्या रूप था ? मानवको यहाँ अपना रूप ही परिवर्तित करना पड़ा । उसने अपनेको प्रकृतिके आकर्षक एवं भोगविलासमय सौन्दर्यसे पृथक् कर लिया और शनैः-शनैः वह अपने मानसिक क्षेत्रका स्वयं उद्घाटन करने लगा । आश्चर्य और असन्तोषकी बात यह थी कि इस उद्घाटनके परिणामस्वरूप उसे ज्ञात हुआ कि मस्तिष्क बड़ा चञ्चल और उद्विग्न है, जो हृदयकी उच्चाकाङ्क्षाओंको रौंद डालनेके लिये सदैव सक्रिय रहता है । उसने यह भी अनुभव किया कि मस्तिष्ककी चेष्टाएँ उसे इन्द्रिय-सुखकी ओर ले जानेके लिये प्रयत्नशील हैं । उसने इन्द्रिय-जन्य सुखकी निस्सारताकी अनुभूति तो पहले ही कर ली थी । अस्तु, वह अपनी आत्मीय शक्तिसे मस्तिष्कके द्वारा प्रस्तुत किये हुए इस विप्लवका सामना करने लगा । अनेक सतत प्रयत्नोंके पश्चात् मस्तिष्क शान्त हो सका । मस्तिष्क मानवका मित्र बन गया । मानव और आगे बढ़ता गया । अन्तमें वह उस स्थितिपर आ पहुँचा जहाँ न तो मनकी पहुँच थी और न मस्तिष्ककी ही । यही स्थिति सृष्टिके अनेक विधानोंके पीछे छिपे हुए रहस्यका उद्घाटन थी । उसके हृदयके सारे संशय दूर हो गये । उसके प्रयत्न विजयी हुए । उसके 'सत्य' की विजय हुई । उसने विश्वके सामने घोषणा की—इस रहस्यमयी सृष्टिके पीछे ईश्वरकी रहस्यमयी शक्ति छिपी हुई है । केवल ईश्वरके विषयमें ज्ञान प्राप्त करनेसे ही मानव-जीवनमें व्याप्त समस्याओं और गुत्थियोंका निराकरण हो सकता है । केवल यही ज्ञान चरम शक्ति एवं अविरल सुखकी अवतारणा कर सकता है । यही सच्चा आत्मज्ञान है, जिससे मनुष्य अखिल विश्वमें एक व्यापक सच्चिदानन्द-सत्ताका अनुभव सर्वतोभावेन अनन्य और आत्यन्तिक सुख-शान्तिको प्राप्त हो सकता है । यही मानव-जीवनका सच्चा आदर्श और लक्ष्य है । यही वह सन्देश है जिसका उद्घाटन भारतीय ऋषियोंने किया; यही वह मूक ध्वनि है जो ज्ञानी महापुरुषोंके जीवन-क्षेत्रसे सदा ध्वनित होती रही है; यही वह रश्मि है जो मानवीय हृदयके अन्धकारको विदीर्ण कर सकती है । इसी सन्देशकी घोषणाके लिये विभिन्न अवतार हुए । जगत्के महापुरुषोंने इसी परम सत्यका सन्देश दिया ।

सृष्टिकी परीक्षा भी हमें इसी तथ्यतक पहुँचाती है । क्या यह सारी जड सृष्टि विनाशमयी नहीं है ? क्या हम विश्वके प्रत्येक पदार्थपर मृत्युकी मुहरके दर्शन नहीं करते ? वैभव और ऐश्वर्यका अन्तिम रूप भी मृत्यु ही होता है । धन, सम्मान, सौन्दर्य, पद आदि कोई भी विभूति हमें

मृत्यु-क्षणसे पृथक् नहीं कर सकती । किंतु एक वही सार्वभौमिक सत्यता और वास्तविकता है जो सर्वत्र समान है, जो मृत्युसे परे है; और वह ईश्वर है । यदि हम एक बार भी इस शक्तिके पास पहुँच जायँ तो फिर हमें भय, मृत्यु, विनाश आदि किसीसे भी डरनेकी आवश्यकता न रहेगी । अतः ईश्वरकी प्राप्ति ही मानव-चेष्टाओंका अन्तिम लक्ष्य और आदर्श है । ईश्वर ही वास्तविक है, अन्य वस्तुएँ अवास्तविक हैं । ईश्वर ही 'सत्' है, जो जन्म और मरण दोनोंसे परे है । वह अपरिवर्तनशील है; अतः वह नित्य है । वह 'चित्' की अक्षयनिधि है । वह स्वयं प्रकाशमान है; वहाँ न तो सूर्य, न चन्द्रमा और न तारे-नक्षत्र आदि प्रकाश देते हैं । वह सदा अपने-आप चमकता है, उसीकी चमकसे ये सब सूर्य, चन्द्रमा और तारे चमकने लगते हैं । उसीके प्रकाशसे सारा विश्व प्रकाशित होता है । यदि हमें उसका ज्ञान हो गया, तब फिर हमें किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं । वह सर्वशक्तिमान् है । वह आनन्द है । ईश्वरके इसी 'आनन्द' से सृष्टिके प्राणियोंका प्रादुर्भाव होता है, आनन्दके आश्रयसे ही वे जीवित रहते हैं, और अन्तमें वे आनन्दमें ही मिल जाते हैं । 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द'—यही ईश्वरका स्वरूप है और ईश्वरके इन तीन भावोंमेंसे किसी एककी आराधना करनेसे भी ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है । उपनिषदोंमें कहा गया है—'वेदोंका अध्ययन, मानसिक बल आदि किसीसे भी आत्माका ज्ञान नहीं हो सकता । आत्माका सच्चा ज्ञान केवल उसीको हो सकता है, जिसके सामने ईश्वर अपने रूपको प्रकट करनेकी कृपा करते हैं—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।' ईश्वर ही आत्मा है, उसीके आश्रयपर ही हम आत्माको पहचान सकते हैं । आत्माके ज्ञानके बिना हम सदैव 'अहं' से पीड़ित रहेंगे । 'अहं' ही समस्त विपदाओं और आपत्तियोंका मूल कारण है; किंतु ईश्वरके कृपापात्र बननेके लिये कुछ आराधनाकी आवश्यकता है । इस आराधनाको ही उपनिषदोंने 'तप' की संज्ञा दी है । इसीका नाम 'योग' है । योग (भगवान्‌के साथ आत्माका संयोग) मानवको अहंके बन्धनसे मुक्त करके आत्माका ज्ञान कराता है । इसके प्रभावसे उसका समस्त शरीर ईश्वरीय विभूतिसे ओतप्रोत हो जाता है । उसका अपना कुछ नहीं रह जाता, सब कुछ ईश्वरका हो जाता है । योग मनको पवित्र करनेवाला एक अचूक साधन है । चित्त-शुद्धिके लिये भी योगकी नितान्त आवश्यकता है । जो मनुष्य अपनेको पाप और इन्द्रियजन्य सुखोंसे परे नहीं बना लेते, उन्हें ईश्वरकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । मानसिक साम्यकी स्थितिमें ही ईश्वरकी आराधना करके ईश्वरकी प्राप्ति की जा सकती है । इस 'योग' के अनेकों भेद हैं, जिनमें चार प्रधान हैं—राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग । राजयोगवाला आराधक अपने चित्त (मन, बुद्धि और अहंकार) को अनेक रूप ग्रहण करनेसे रोकता है । ज्ञानयोगवाला आराधक इस सृष्टिको मायाका खेल समझता है । वह अपने विवेक-ज्ञानसे 'वास्तविक' का 'अवास्तविक' से भेद करके 'वास्तविक सत्य' के मार्गका अवलम्बन करता हुआ ब्रह्म-प्राप्तिके प्रयत्नमें निरत होता है । वह परमात्माके अहंमें अपने अहंको मिलाकर सब कुछ उन्हींको समझता है । कर्मयोगी वैध कर्मोंके आश्रयसे अपने लक्ष्यकी प्राप्ति करता है; वह कर्ममें निष्काम भाव रखता है, उसे न कर्मोंमें आसक्ति होती है और न उसके फलोंकी कामना । वह सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है ।

'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।'

भक्तियोगी अपने दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्‌की अपार श्रद्धा तथा प्रेमके साथ पूजा और आराधना करता है । वह सब कुछ त्यागकर ईश्वरकी आराधनामें ही अपना चित्त लगाये रहता है । वह अपना सब कुछ ईश्वरके चरणोंमें समर्पित कर देता है ।

ईश्वर-प्राप्तिकी साधनाके ये चार प्रधान मार्ग हैं । इसके अतिरिक्त पतञ्जलिप्रयुक्त अष्टाङ्गयोगसे भी भगवत्प्राप्ति होती है । हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें इनका तथा ऐसे ही अन्यान्य मार्गोंका भी निरूपण किया गया है । हम मानवोंका कर्तव्य है कि हम अपनेको इन्द्रियजन्य वासनाकी मृगमरीचिकासे पृथक् करके सच्चिदानन्द भगवान्‌की प्राप्तिका उपाय करें । जो अपनी शक्ति तथा रुचिके अनुसार जिस मार्गका अवलम्बन करता है उसीमें उसका कल्याण है । मार्गका अन्तिम लक्ष्य एक परम 'सत्य' की प्राप्ति होनी चाहिये । ईश्वरकी प्राप्ति ही चरम शान्ति और अविरल आनन्दकी प्राप्ति है । ईश्वरकी प्राप्ति ही जन्म-मरणके बन्धनोंसे मुक्ति है । अतएव मानव ! उठो, जागो और अपने लक्ष्यकी ओर गतिशील होओ । लक्ष्यतक पहुँचनेपर ही प्रयत्नको विराम दो ।

अर्थपञ्चक

(विशिष्टाद्वैतवेदान्तपरक)

(लेखक—श्रीजयनारायण मल्लिक, एम्०ए०, डिप०एड०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

श्रीवैष्णवों (श्रीरामानुज-सम्प्रदायानुयायी महानुभावों)के लिये 'अर्थपञ्चक'का ज्ञान परम आवश्यक है। विना 'अर्थ-पञ्चक' जाने वास्तविक तत्त्वज्ञान नहीं होता। अर्थपञ्चकमें पाँच विषय वर्णन किये गये हैं—

१. स्वस्वरूप (जीवात्माका स्वरूप)।
२. परस्वरूप (परमात्माका स्वरूप)।
३. पुरुषार्थस्वरूप (जीवोंके लिये क्या पुरुषार्थ है)।
४. उपायस्वरूप (जीवात्माके परमात्मासे मिलनेका क्या उपाय है)।
५. विरोधीस्वरूप (जीवात्माके परमात्मासे मिलनेमें अर्थात् मोक्ष-मार्गमें क्या-क्या रुकावटें हैं)।

इन पाँचों विषयोंके यथार्थ ज्ञानका नाम 'अर्थपञ्चक' है। इन पाँचों विषयोंमेंसे प्रत्येकके पाँच भेद हैं।

तत्त्वज्ञानके लिये इन पाँचोंका ज्ञान आवश्यक है। जबतक जीव अपने स्वरूपको नहीं पहचानेगा तबतक वह माया-मोहमें लिपटा रहेगा। जब उसे यह ज्ञान हो जायगा कि यह भौतिक शरीर क्षणिक है और आत्मा अमर है, तब वह भौतिक शरीर-के भोगोंमें भी लिप्त नहीं होगा। विना परमात्माका स्वरूप जाने परमात्माका कैंकर्य नहीं हो सकता।

स्वस्वरूपका अर्थ जीवात्माका स्वरूप है। वह पाँच प्रकारका है—

१. नित्य (जो सदैव वैकुण्ठमें रहते हैं)।
२. मुक्त (जो पहले संसारी मायामें लिपटे थे, पर अब मायासे छुटकारा पा गये हैं)।
३. बद्ध (जो अभी भी संसारी मायामें लिपटे हैं)।
४. केवल (जो केवल ज्ञानयोगके द्वारा परमात्मामें मिल जाना चाहते हैं)।
५. मुमुक्षु (जो परमात्माके कैंकर्यमें लीन होकर मोक्ष-की अभिलाषा करते हैं)।

परमात्माका स्वरूप पाँच प्रकारका है—

१. पर-रूप (वैकुण्ठमें श्रीलक्ष्मीदेवीके साथ मायामण्डल-से पृथक् श्रीमन्नारायण भगवान्)।
२. व्यूह-रूप (क्षीरशायी श्रीवासुदेव भगवान् तथा संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध)।
३. विभव (श्रीराम-कृष्ण इत्यादि अवतार)।
४. अन्तर्यामी (सर्वत्र सभी वस्तुओंमें सर्व-शक्तिमान् रूपसे रहनेवाले परमात्मा)।
५. अर्चावतार (भगवान्की श्रीमूर्तियाँ)।

जो वस्तु पुरुषोंको उपार्जन करनी चाहिये, उसीका नाम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ पाँच प्रकारका है—

१. धर्म (लोकोपकारी शुभ कार्य)।
२. अर्थ (कर्तव्यके लिये द्रव्यका सदुपयोग)।
३. काम (संसारी तथा स्वर्गीय सुख-भोग)।
४. आत्मानुभव (केवल अपनी आत्माके शुद्ध, दिव्य रूपका चिन्तन करना)।
५. भगवदनुभव (मुक्त होकर वैकुण्ठमें सदैव भगवत्कैंकर्यका अनुभव करना)।

भगवान्से मिलनेका उपाय भी पाँच प्रकारका है—

१. कर्म।
२. ज्ञान।
३. भक्ति।
४. प्रपत्ति (आत्मसमर्पण)।
५. आचार्याभिमान।

विरोधी भी पाँच प्रकारका है—

१. स्वरूपविरोधी।
२. परत्वविरोधी।
३. पुरुषार्थविरोधी।
४. उपायविरोधी।
५. प्राप्तिविरोधी।

जो लोग सदैव संसारके सम्बन्धसे, संसारी रूपसे और संसारी सम्पर्कसे रहित हैं, जो भगवान्हीके इच्छानुसार जीवनके भोगोंको भोगते हैं, जो श्रीवैकुण्ठनाथके विविध कैंकर्योंमें प्रवीण मन्त्रीगण हैं, जो भगवान्की आज्ञासे सृष्टि-की स्थिति और संहार दोनों करनेमें समर्थ हैं, जो पर-व्यूह इत्यादि भगवान्के सभी रूपोंका सभी अवस्थाओंमें भी

अनुकरण कर कैंकर्य करनेमें पटु हैं, ऐसे जो विष्वक्सेन इत्यादि भगवान्के पार्षद देवगण हैं (अर्थात् जो सब प्रकार-से माया-बन्धनसे मुक्त हैं, जो सदैव वैकुण्ठमें रहकर वैकुण्ठ-नायके कैंकर्यमें लीन रहते हैं), उन्हें 'नित्यजीव' कहते हैं।

भगवान्की कृपासे जिनके प्राकृतिक सम्बन्धके दुःख और पाप पूर्णरूपसे छूट गये हैं (परमात्माकी दयासे जिनके संसारी दुःख और पाप सर्वथा नष्ट हो गये हैं), जो भगवान्के स्वरूप, सौन्दर्य, गुण और वैभवोंका अनुभव करते हुए वैकुण्ठ-महाधाममें पूर्णतया संतुष्ट तथा आनन्दित हैं, उन्हीं मुनियोंका नाम 'मुक्त जीव' है।

नित्य जीव तो कभी माया-बन्धनमें पड़े ही नहीं, पर मुक्त जीव माया-बन्धनमें पड़कर भक्ति-योग तथा प्रपत्ति-योग-के द्वारा माया-बन्धनसे मुक्त हो गये हैं। मुक्तकी अवस्थामें स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर पूरा नष्ट हो जाता है और आत्माका शुद्ध रूप प्रकट हो जाता है।

बद्ध जीव माया-मोहमें लिपटे हुए अज्ञानी जीव हैं। वे समझते हैं कि पाँच तत्त्वोंका (मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और आकाशका) बना हुआ शरीर जो दुःख और सुखके अनुभवोंका साधन है, जो आत्माके वियोग होनेपर (मरने-पर) देखने और छूनेके भी योग्य नहीं रहता, जो अज्ञान, मूढ़ता और विरुद्ध ज्ञान देनेवाला है—वह शरीर ही आत्मा है, और इसी कारण वे सोचते हैं कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न अपनी देहका पालन-पोषण करना ही पुरुषार्थ है। इसीलिये वे केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि विषयोंकी प्राप्तिके लिये (अर्थात् अनुकूल शब्द सुननेके लिये, कोमल वस्तुओंको छूनेके लिये, सुन्दर वस्तुएँ देखनेके लिये, स्वादिष्ट पदार्थ चखनेके लिये और सुगन्धित चीजें सूँघनेके लिये) यत्नशील बने रहते तथा वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) और आश्रम (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी) के धर्मोंको छोड़कर नीच पुरुषोंकी सेवा करते हैं, और प्राणियोंकी हिंसा करते हुए पर-नारी तथा दूसरेका धन हड़पकर संसारमें अपनी उन्नति चाहते हैं। ऐसे जो भगवान्के विमुख जीव हैं, उन्हें 'बद्ध' कहते हैं।

बद्ध जीव समझते हैं कि शरीर ही सब कुछ है और मृत्यु ही जीवनका अन्त है। वे शरीरसे पृथक् आत्माको नहीं मानते, अतः स्वर्ग, नरक और मोक्षको भी नहीं मानते। वे समझते हैं कि जबतक जीवित रहें, खूब सुखभोग कर लें। वे पापसे नहीं डरते, क्योंकि नरक और स्वर्गमें उन्हें विश्वास ही नहीं रहता।

कैवल्य चाहनेवाले संसाररूपी जंगलकी आगसे व्याकुल होकर संसारी दुःखोंका नाश करनेके लिये शास्त्रमें बताये हुए ज्ञानके द्वारा प्रकृति (जड जगत्) और आत्मा (चैतन्य) का सच्चा विवेक प्राप्त कर यही सोचते हैं कि प्रकृति (संसार) दुःखकी जड़ है और इसमें केवल वे ही पदार्थ भरे पड़े हैं जो घृणित और त्यागने योग्य हैं, तथा आत्मा प्रकृतिसे अलग है, अपने ही प्रकाशित और सुखी है, नित्य (जिसका आदि और अन्त न हो) और अलौकिक (जिसका जड जगत्से कुछ भी सम्पर्क न हो) है। इस प्रकार सोचकर वे अपने पहलेके भोगे हुए दुःखोंकी अधिकताके कारण ज्ञान और आनन्दसे युक्त परमात्माके चिन्तनमें असमर्थ होकर तथा परमात्मारूपी अमृतके समुद्रको छोड़कर आत्मारूपी थोड़े ही रसमें लीन हो जाते हैं और इस आत्माकी प्राप्तिके साधन—ज्ञानयोगमें निष्ठा लगाये हुए यही सोचते हैं कि योग-मार्गमें जो आत्माका अनुभव है, वही एकमात्र पुरुषार्थ है। इस प्रकार केवल आत्मज्ञानमें लगे हुए वे मृत्युके बाद संसारके सम्बन्धसे तथा भगवान्की प्राप्तिसे रहित होकर केवल आत्माहीके रूपमें विचरते रहते हैं। ऐसे जो जीव हैं, उन्हें 'केवल जीव' कहते हैं।

जो जीव कर्मयोग और ज्ञानयोगकी सहायतासे भक्ति (परमात्माका कैंकर्य) और प्रपत्ति (परमात्माके लिये आत्म-समर्पण) के द्वारा मायाबन्धनसे छुटकारा पाकर परमात्माके दिव्य-लोकमें परमात्माके आनन्दमय अनुभवमें लगे रहते हैं, उन्हें 'मुक्त' कहते हैं, पर जो जीव कर्मयोग, भक्ति और प्रपत्तिको छोड़कर केवल ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माका चिन्तन नहीं करते, पर केवल अपनी आत्माहीका चिन्तन करते रहते हैं (धर्म और अधर्मसे अलग रहकर अपने ही आपमें लीन रहते हैं) वे मरनेके बाद माया-बन्धनसे तो अवश्य छुटकारा पा जाते हैं, पर परमात्माके लोकमें नहीं जाते, केवल निर्विकार आत्माके रूपमें विचरण करते रहते हैं, उन्हें 'केवल' जीव कहते हैं।

जो जीव मोक्षकी इच्छा रखते हैं, वे मुमुक्षु हैं। वे दो प्रकारके हैं—उपासक और प्रपन्न।

उपासक वे हैं जो भक्ति, प्रेम और उपासनाके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं। प्रपन्न वे हैं, जो शरणागति और आत्मसमर्पणके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं।

वेद-शास्त्रोंमें कहे हुए उपायोंसे कर्म और ज्ञानके द्वारा समस्त कल्याणगुणयुक्त परमात्माके रूप और गुणका सदैव चिन्तन और स्मरण करना, परमात्माकी सेवा करना, और जिस प्रकार तैलकी धारा लगातार गिरती रहती है, कहीं टूटने नहीं पाती, उसी प्रकार निरन्तर परमात्माका ध्यान करना भक्ति कहलाता है। प्रपत्तिका अर्थ है परमात्माकी शरणमें निष्काम और निर्लिप्त होकर जा गिरना—संसारकी सारी आशा और भरोसा छोड़कर परमात्माके चरणोंमें अपने शरीर, मन, आत्मा सभी कुछको सौंप देना। प्रपत्ति भक्तिसे अधिक सुलभ और शीघ्र फल देनेवाली है। प्रपत्तिके द्वारा परमात्मा बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं, क्योंकि जब जीव अपना सब कुछ परमात्माको सौंप देता है और हृदयसे कहता है कि 'नाथ! मैं तेरी ही शरणमें हूँ, मैंने सबका आसरा छोड़ दिया है, मैं केवल तेरा ही हूँ, मुझे कोई दूसरा देखनेवाला नहीं, मैं अकिञ्चन हूँ (अर्थात् मेरा कुछ भी नहीं है और मैं अनन्य हूँ, संसारसे छुटकारा पानेके लिये मैं केवल तुझको अपना उपाय समझता हूँ, मैं किसी दूसरेकी शरणमें नहीं जा सकता)। प्रपन्नकी ऐसी आर्त वाणी सुनकर परमात्माका हृदय दयार्द्र हो जाता है। भक्त समझते हैं कि 'ममैवासौ' अर्थात् वह (परमात्मा) मेरे ही हैं, इसलिये उनकी सेवाका पूर्ण भार मेरे ही ऊपर है। प्रपन्न समझते हैं कि 'तस्यैवाहम्' अर्थात् मैं उन्हींका हूँ अतः वे ही मेरे स्वामी तथा सर्वस्व हैं।

भगवान्के पाँच भेद हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार। इनमें अर्चावतारकी उपासना तो सबसे सुलभ है, पर मोक्षकी प्राप्तिके लिये पररूप तथा अन्तर्यामीरूपकी उपासना भी आवश्यक है। परब्रह्म मायामण्डलसे पृथक् हैं। अतः उनकी सेवा इन्द्रियोंसे नहीं हो सकती, केवल मनसे हो सकती है। पर-वासुदेवकी सेवा केवल स्मरण, चिन्तन, शरणागति, आत्मसमर्पण तथा अष्टाक्षर और द्वयमन्त्रका अनुसन्धान है। अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र सभी प्राणियोंमें वर्तमान हैं। अतः उनकी सेवा सभी प्राणियोंकी सेवा है।

पर-वासुदेव मायामण्डलसे पृथक् वैकुण्ठ-धाममें वर्तमान आदिज्योतिःस्वरूप पर-ब्रह्म परमात्मा हैं।

परमात्माका वैकुण्ठ-धाम वही है, जिसके विषयमें लिखा है—

ॐ 'तद्विष्णोः परमं पदम्, सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षुराततम्।' (ऋग्वेद प्रथमाष्टक)

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।' (गीता १५। ५)

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' (पुरुषसूक्त)

उस परमधाममें दुःख, शोक, व्याधि, पीड़ा, भूख, प्यास, काम, क्रोध, मोह, लोभ किसी प्रकारका सन्ताप नहीं है। वहाँ केवल दिव्य-आनन्द और भगवत्कैङ्कर्य है। मायाका वहाँ कुछ भी अधिकार नहीं, अतः वहाँ इच्छा और पुनर्जन्म भी नहीं। ये ही वैकुण्ठपति श्रीमन्नारायण भगवान् भूदेवी, नीलादेवी और अनन्त तथा अलौकिक सौन्दर्य एवं शीलकी राशि जगन्माता श्रीदेवीके साथ विराजमान हैं। ये परमात्मा दिव्य सुन्दररूप अनन्त कल्याण-गुणयुक्त आदिज्योतिःस्वरूप हैं। महाप्रलयमें भी वैकुण्ठका नाश नहीं होता, अतः वैकुण्ठका वैभव और शोभा नित्य तथा सनातन हैं। वैकुण्ठमें पहुँच जानेपर जीव मुक्त हो जाता है (माया-बन्धनसे छूट जाता है)। इन्हीं वैकुण्ठनाथका नाम पर-वासुदेव परब्रह्म अथवा श्रीमन्नारायण भगवान् है। भगवान्के जितने स्वरूप हैं, सबमें श्रेष्ठ यही रूप है। यहाँ अनन्त, विष्वक्सेन, गरुड़ इत्यादि नित्यमुक्त जीव सदैव भगवत्कैङ्कर्य-में लीन रहते हैं। सृष्टिकी चिन्ता वैकुण्ठपति भगवान्को नहीं रहती। वहाँके मुक्त जीव दिव्य-सुन्दर शरीर धारणकर दिव्य आनन्दमें मग्न रहते हैं तथा उन्हें दिव्य स्मृति, दिव्य ज्ञान और दिव्य नेत्र प्राप्त हो जाते हैं। वह लोक स्वयंप्रकाश है। यहाँ श्रीदेवीके रूपकी झलकसे कोटि सूर्यके समान प्रकाश है और कोटि चन्द्रमाके समान शीतलता है। इसी परमधामकी प्राप्तिका नाम 'मोक्ष' है।

भगवान्के दूसरे रूपका नाम व्यूहरूप है। व्यूहरूपमें संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं। इनका कार्य सृष्टि करना, पालन करना और संहार करना है।

व्यूह चार हैं, पर कहीं-कहींपर तीन भी लिखे हैं। प्रथम छः गुणोंसे युक्त शेषनागपर शयन करनेवाले क्षीरशायी वासुदेव भगवान् हैं, जो संसारके स्वामी हैं और दुष्टोंका नाश करने तथा न्याय एवं धर्मकी रक्षा करनेके लिये कभी-कभी पृथ्वीपर अवतार लेते हैं। जिस प्रकार वैकुण्ठपति त्रिपाद्विभूतिके स्वामी हैं, उसी प्रकार वासुदेव भगवान् मायाविभूतिके स्वामी हैं। इनके अतिरिक्त तीन और मूर्तियाँ हैं—संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।

इनमेंसे प्रत्येक दो-दो गुणसम्पन्न हैं । इनका कार्य सृष्टिका प्रबन्ध तथा संचालन करना है । इन्हींके अंशसे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश उत्पन्न होते हैं ।

भगवान्‌का विभवरूप श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि अवतार हैं । यों तो भगवान्‌के करोड़ों अवतार हैं, पर उनमें चौबीस प्रधान हैं और चौबीसमें भी दस मुख्य हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र, बुद्ध तथा कल्कि । इनमें भी श्रीराम और श्रीकृष्ण पूर्णावतार तथा शेष अंशावतार हैं । अंशावतार केवल किसी विशेष कार्यसे पृथ्वीपर प्रकट होते हैं और कार्य-सम्पन्न होनेपर फिर अन्तर्धान हो जाते हैं । पर श्रीराम और श्रीकृष्ण अपनी पूर्ण विभूतियोंके साथ पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए और केवल दुष्टोंका नाश करके ही अन्तर्धान नहीं हो गये, वरं बहुत दिनोंतक मर्यादापुरुषोत्तमकी तरह हमारे दुःख-सुखोंके बीच रहकर हमें एक आदर्श कर्तव्यका ज्ञान सिखला गये । जब-जब ब्रह्मा, महादेव, इन्द्र आदि देवता अन्याय-अत्याचारसे डरकर शेषशायी भगवान्‌की शरणमें जाते हैं, तब-तब शेषशायी भगवान् पृथ्वीपर अवतार लेकर संसारको कृतार्थ करते हैं ।

अन्तर्यामी भगवान् दो प्रकारके हैं । 'दासों (प्राणिमात्र) के अन्तस्तलमें भगवान् वर्तमान हैं ।' भगवान्‌का कथन है कि 'मेरे दास ही मेरी आत्मा हैं ।' सृष्टिके अन्तःकरणमें परमात्माकी झलक है । संसारमें जहाँ-जहाँ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का प्रकाश है—जहाँ कहीं आनन्द एवं कल्याणकी ज्योति है, वहाँ अन्तर्यामी भगवान्‌की ही झलक है । प्राणिमात्रके हृदयमें संपूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्तिको सर्वदा देखते हुए जो भगवान् हैं, उन्हींका नाम अन्तर्यामी है ।

भगवान्‌का अन्तर्यामीरूप सूक्ष्म, व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र रहनेवाला तथा अव्यक्त है । उन्हें कोई देख नहीं सकता, पर वह सब कुछ देख रहे हैं । एकान्तसे एकान्त स्थलमें जो कुछ भी पुण्य-पाप किया जाता है, उसे भी अन्तर्यामी भगवान् देख लेते हैं । इतना ही नहीं, हमारे मनके अंदर जो अच्छे तथा बुरे संकल्प उठते हैं, वे भी अन्तर्यामी भगवान्‌से छिपे नहीं रहते । जो अन्तर्यामी भगवान्‌की सत्तापर विश्वास करेगा, वह छिपकर भी कभी पाप नहीं कर सकता, बुरे विचारोंको भी मनमें नहीं ला सकता तथा 'अन्तर्यामी भगवान् सभी प्राणियोंमें हैं' यह जानकर किसीका अनिष्ट भी नहीं कर सकता । अन्तर्यामी भगवान्‌की उपासना—प्राणिमात्रका कल्याण करना, उन्हें सुखी बनाना तथा अच्छे मार्गपर लाना है । एक बात और है—अन्तर्यामी भगवान् प्रवृत्ति और निवृत्तिको देखते हैं । अतः मनमें भोग-लालसा, स्वार्थ-बुद्धि तथा बुरी वासना रखकर यदि कोई अच्छा कार्य भी किया जाय, तो भगवान् प्रसन्न नहीं होते । संसारकी दृष्टिमें तो हम अच्छे कार्य करनेका यश लूटते हैं, पर भगवान् तो हमारे हृदयकी छिपी प्रवृत्तिको देख रहे हैं । इसी प्रकार पवित्र मनसे कर्तव्य-बुद्धिसे तथा कल्याण करनेकी भावनासे यदि कोई अपराध भी हो जाय; तो उसे भगवान् क्षमा कर देते हैं । जो निश्छल, निष्कपट हृदयसे अपने आचरणोंको पवित्र रखकर प्राणिमात्रपर दया तथा प्रेम रखते हुए एवं प्राणिमात्रका कल्याण करते हुए सतत श्रीलक्ष्मीजी-सहित परमात्माके दिव्य रूप तथा गुणोंके चिन्तनमें रत रहता है, वही परमात्माका श्रेष्ठ भक्त है ।

अपने दासोंके अनुकूल नाम और रूप धारण कर, सर्वसमर्थ होनेपर भी असमर्थकी तरह, सबके रक्षक होते हुए भी दूसरोंके भरोसे रहते हुए-से सबके लिये सुलभ जो भगवान्‌की मूर्तियाँ हैं, उन्हींका नाम अर्चावतार है । अर्चावतार भगवान् स्वयंव्यक्त, दैव अथवा मानुष (मनुष्यके द्वारा स्थापित) के रूपमें सब लोगोंकी पहुँचके अन्तर्गत हैं । उसका कैङ्कर्य सभीके लिये सुलभ है ।

अभीतक हमलोग यही समझते आये हैं कि घर बुहारना, लीपना, फूल-तुलसी तोड़ना, पूजा करना, रसोई बनाना, भोग लगाना, धूप-आरती देना, बस—यही भगवान्‌के कैङ्कर्य-कार्य हैं । जहाँ हमलोग ये कार्य कर चुके कि बस, हमारे कैङ्कर्यकी इति-श्री हो चुकी; परंतु इतनी ही बात नहीं है । यह कैङ्कर्य भी आवश्यक है, पर यह तो केवल अर्चावतार रूपका कैङ्कर्य है । मोक्षके भागी तो हम तभी हो सकते हैं, जब हम भगवान्‌के सभी रूपोंका कैङ्कर्य करें । पर-वासुदेवका कैङ्कर्य और अन्तर्यामी भगवान्‌का कैङ्कर्य तो और भी आवश्यक है । पर-वासुदेव हमारी इन्द्रियोंसे परे और मायासे भी परे हैं । अतः उनका कैङ्कर्य इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता, केवल मनसे हो सकता है । वैकुण्ठपति भगवान्‌का स्मरण, ध्यान, सदैव चिन्तन, मन्त्रार्थका अनुसन्धान और परमात्माकी सेवामें लीन रहना ही

पर-रूप भगवान्का कैङ्कर्य है। शेषशायी भगवान्की स्तुति, वन्दना, कीर्तन इत्यादि व्यूहरूपके कैङ्कर्य हैं। कथा-पुराण सुनना या कहना तथा नाम-यश इत्यादिकी चर्चा करना विभवरूप भगवान्के कैङ्कर्य हैं। भगवान्का अन्तर्यामी-रूप सर्वत्र है, सभी प्राणियोंमें है। अतः अन्तर्यामी भगवान्का कैङ्कर्य निम्नलिखित है।

१—छिपकर भी (एकान्त स्थलमें भी) कोई पाप, अन्याय तथा बुरा काम कभी नहीं करना; क्योंकि अन्तर्यामी भगवान् वहाँ भी हैं।

२—मनमें कोई भी विकार तथा बुरी वासना कभी नहीं रखना। जो कुछ करना निष्काम और निर्लिप्त होकर भगवत्सेवाकी बुद्धिसे कर्तव्य समझकर करना; भोग-बुद्धि और स्वार्थ-भावनासे नहीं करना; क्योंकि हमारे अन्तःकरणमें भी अन्तर्यामी भगवान् हैं और हमारी प्रवृत्तियोंको वे देखा करते हैं।

३—अपनी शास्त्रविहित भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी ओरसे विरक्त नहीं होना। अपने जीवनको सब तरहसे सुखी, समुन्नत तथा धार्मिक बनाना, क्षणिक सुख-भोग, या धनके प्रमोदके लिये अपने शरीरका अथवा धनका या शक्तिका दुरुपयोग नहीं करना। आमोद-प्रमोद वे ही उचित हैं, जिनसे आनन्दके साथ-साथ सात्त्विक शिक्षा भी मिले, भगवान्की ओर रुचि बढ़े, हमारा और हमारे समाजका यथार्थ कल्याण हो, कोई बुराई न हो, क्योंकि हममें भी अन्तर्यामी भगवान् हैं।

४—माता-पिता, स्त्री-पुत्र, मित्र-परिवार, जाति तथा देश, गरीब तथा निःसहाय सभीके प्रति प्रेम रखना, सभीकी सेवा करना और सभीके साथ उचित व्यवहार करना; क्योंकि इन सबके अंदर भी अन्तर्यामी भगवान् हैं।

५—प्राणिमात्रपर दया तथा प्रेम रखना। दूसरेका कल्याण करना, किसीकी भी बुराई नहीं करना। अपने स्वार्थके लिये अथवा भोग-वासनाके लिये किसीके भी जीवनको दुखी नहीं बनाना, किसीके भी हृदयपर चोट नहीं पहुँचाना। वचनसे या कर्मसे किसीका भी अनिष्ट नहीं करना। मनसे भी किसीका अनिष्ट नहीं सोचना। दूसरेके जीवनको सुखी, समुन्नत तथा पवित्र बनाना, क्योंकि प्राणिमात्रमें अन्तर्यामी भगवान् हैं।

पर-वासुदेवकी सेवाका अर्थ है—

तनसे कर्म करहु बिधि नाना। मन राखहु जहँ कृपानिधाना॥
मनसे सकल बासना त्यागी। केवल राम चरन लय लागी॥

अन्तर्यामी भगवान्की सेवाका अर्थ है—अपने अन्तः-करणको तथा अपने आचरणोंको पवित्र रखना एवं सभी जीवोंपर प्रेम रखना तथा निःस्वार्थभावसे सबकी भलाई करना।

भगवान्से मिलनेके कई मार्ग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा प्रपत्तियोग। वेदके पूर्व-भाग (संहिता और ब्राह्मण) में कर्मका प्रतिपादन और वेदके उत्तर-भाग (उपनिषत् और आरण्यक) में ज्ञानका विश्लेषण किया गया है। भक्ति या उपासनाकी झलक सर्वत्र मिलती है—विशेषकर पाञ्चरात्र, गीता और सूत्र-ग्रन्थोंमें। दिव्य-प्रबन्धोंमें प्रपत्ति या शरणागतिका वर्णन है। मीमांसाने कर्मको अपनाया, सांख्य और शाङ्कर-वेदान्तने ज्ञानको। योगशास्त्रमें कर्म और ज्ञान दोनोंका समन्वय है, पर शाङ्कर-वेदान्त और योगशास्त्रका एक ही लक्ष्य है—कैवल्य-पदको प्राप्त करना। सकाम कर्म हमें पितृयान या धूममार्गके द्वारा चन्द्रलोक या स्वर्गतक ले जा सकता है पर पुनर्जन्मको नहीं रोक सकता। कर्मयोग (निष्काम और निर्लिप्त होकर भगवत्प्रीतिके लिये केवल कर्तव्य तथा कैङ्कर्य-बुद्धिसे कर्म करना और कर्म करनेके बाद भगवान्को अर्पित कर देना) हमें मोक्षकी ओर अग्रसर करता है। ज्ञानयोग हमें आत्मा और परमात्माको पहचाननेमें तथा भक्तियोगमें सहायक होता है। केवल ज्ञानका पथ कठिन है और वह कैवल्यकी ओर चला जाता है। श्रीरामानुजवेदान्तमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा प्रपत्तियोग सबका समन्वय है। मोक्षका सबसे बड़ा बाधक अज्ञान, अविद्या या कर्म-संस्कार है। जबतक कर्म-संस्कारसे बने हुए सूक्ष्म शरीरका नाश नहीं होता, तबतक जीव मुक्त नहीं हो सकता। निष्काम कर्म-योगसे क्रियमाण कर्म अन्तःकरणमें विकार और आसक्ति उत्पन्न ही नहीं करता। ज्ञानयोगसे पहलेका सञ्चित कर्म दग्ध हो जाता है। भक्तियोग हमें परमात्माके समीप ले जाता है और प्रपत्तियोग हमें परमात्माके ऊपर निर्भर कर देता है। श्रीरामानुजने सम्पूर्ण वेदको प्रामाणिक मानकर पूर्व-मीमांसा और वेदान्त—दोनोंको एक शास्त्र माना है।*

---

* यह सुन्दर लेख श्रीरामानुज-सम्प्रदायानुसार लिखित है। परमात्मा, आत्मा तथा जीवके स्वरूपके सम्बन्धमें सिद्धान्तभेदसे मतभेद हो सकता है, पर इसमें जिन साधनोंका वर्णन है, वे तो प्रायः सर्वमान्य हैं। —सम्पादक

सदुपयोगकी महिमा

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

बुद्धिमान् मनुष्यो ! तुम्हारे साथ शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धिसे लेकर इनके द्वारा गृहीत सभी वस्तुओं-तक जो कुछ भी है उसका सदुपयोग करना ही पुण्य-पथमें चलना है तथा आदिमें सुख और अन्तमें शान्ति प्राप्तकर जीवनको सार्थक बनाना है, इसके विपरीत प्राप्त वस्तु अथवा शक्तिका दुरुपयोग करना ही पाप-पथसे चलते हुए सुखके पीछे दुःख तथा घोर अशान्तिके गहन तलमें उतरकर जीवनको व्यर्थ नष्ट करना है।

रजोगुणकी प्रधानतामें अभिलषित वैध सुख-लाभके लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे शक्तिका उपयोग कहा जा सकता है पर जिसे अपने लाभका ज्ञान ही नहीं है उसके द्वारा तमोगुणकी प्रधानतामें आलस्य-प्रमादवश केवल शरीर और इन्द्रियजन्य सुखोंकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न होता है वह तो शक्तिका दुरुपयोग ही है। केवल सत्त्वगुणकी प्रधानतामें ही बुद्धिनिर्णीत सुख और अन्तमें शान्ति-लाभके लिये जो प्रयत्न होता है वही शक्तिका सदुपयोग है। शुद्ध सात्त्विक बुद्धिसे ही तुम वह सत्य-ज्ञान-प्रकाश पा सकोगे जिसके द्वारा अपने अधिकारमें मिली हुई वस्तुओंका या शारीरिक अथवा मानसिक शक्तियोंका सदुपयोग करना अत्यन्त सुगम होगा।

सुन्दर वस्तुओंकी प्राप्ति ही केवल सौभाग्यकी बात नहीं है या सुन्दर कही जानेवाली वस्तुओंका अभाव ही दुर्भाग्यका परिचायक नहीं है, वास्तवमें शुद्ध बुद्धिमें यथार्थदर्शिता ही सौभाग्यका परिचय देती है, इसीसे प्राप्त वस्तुओं या शक्तियोंका सदुपयोग सिद्ध होता है। शुद्ध बुद्धिमें प्राप्त सद्ज्ञानके द्वारा ही मानव सुलभ सुखों या सुखद पदार्थोंका सदुपयोग करते हुए दानी होता है और अभावजनित दुःखोंका सदुपयोग करते हुए त्यागी होता है। दानसे अभीष्ट सुखोंकी प्राप्ति और त्यागसे शान्तिकी सिद्धि होती है। यदि बुद्धि शुद्ध नहीं है तो जो कुछ भी अच्छी वस्तु तुम्हें मिली है उसका अमर्यादित विधिसे अभिमानपूर्वक भोग करते हुए तुम दुरुपयोग ही करोगे। युग-युगान्तरसे सदुपयोगका सत्परिणाम और दुरुपयोगका दुष्परिणाम मनुष्य देखता चला आ रहा है। कितने ही आदर्श महापण्डित, अद्वितीय विद्वान् तथा मृत्युको स्ववश-सा कर लेनेवाले महापराक्रमी शक्तिके दुरुपयोगके कारण ही राक्षस और दैत्यकोटिमें गिने गये। युगोंकी बात पीछे छोड़ दो, वर्तमान समयमें ही ऐसे बुद्धिशाली विद्वान् जो प्रकृतिकी शक्तियोंपर स्वतन्त्र आधिपत्य स्थापित कर स्वच्छन्दरूपसे आकाश-पातालमें घूम रहे हैं तथा संसारमें समयसे पूर्व ही प्रलय उपस्थित करनेकी शक्तिका परिचय दे रहे हैं और अन्यान्य लोकोंमें पहुँचनेका प्रयत्न कर रहे हैं; अपनी बड़ी-से-बड़ी शक्तिका दुरुपयोग करते हुए अशान्तिमय अन्धकारमें ही भटक रहे हैं। आज जिधर दृष्टि जाती है प्रायः उधर ही ऊँची-ऊँची कक्षाओंमें उत्तीर्ण होनेवाले बड़ी-बड़ी उपाधियोंसे सम्मानित शिक्षित व्यक्तिमें जितनी चरित्र-हीनता, बड़ी-बड़ी चोरी, छल-कपट, अहङ्कार-अभिमान, अर्थलोलुपता तथा भोगजन्य सुखोंकी तृष्णा दीख पड़ती है उतनी अशिक्षित समुदायमें नहीं है। यह भयानक कुरूपता तमोगुणी बुद्धिद्वारा शक्तिके दुरुपयोगके ही कारण है। वर्तमान समयमें जो विद्वान्, बलवान्, उच्चपदाधिकारी और धनी होकर अपनी शक्तिका दूसरोंके हितके लिये अथवा आत्मकल्याणके लिये सदुपयोग कर रहे हैं वे सज्जन नाममात्रको रह गये हैं। जिसकी बुद्धि सत्य-असत्यका विचार नहीं कर सकती, धर्मा-धर्म और कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय नहीं कर सकती,

सद्विवेक और यथार्थ ज्ञानसे रहित है उसके अधिकारमें किसी भी प्रकारकी सुन्दर वस्तुका होना उसी प्रकार भयावह है जिस तरह उन्मत्त मनुष्यके हाथमें बन्दूक, तलवारका होना है।

जिस किसीको अपने जीवनमें शक्ति-सदुपयोगके ज्ञानकी कमी प्रतीत हो, उसीसे यह निवेदन है कि तुम श्रेष्ठ और सुन्दरके संयोगसे अभिमानोन्मत्त न बनो और न श्रेष्ठ और सुन्दरके अभावमें अपने भाग्यको ही कोसते रहो। तुम्हारे लिये श्रेयास्पद यही है कि बुद्धिमान् और ज्ञानी पुरुषोंके संगसे शक्ति-सदुपयोगका ज्ञान प्राप्त करो। सद्ज्ञानका द्वार बुद्धिमान् और श्रद्धालु पुरुषोंको ही दीखता है। यदि तुम जीवनका अथवा जीवनकी सभी अवस्थाओंका सदुपयोग करना चाहते हो तो विनम्र बनो। विनम्रताका अर्थ है ज्ञानरूपी प्रकाशके सामने झुकना और उसे शिरोधार्य करना। विनम्र होकर ही श्रद्धाका परिचय दिया जा सकता है और श्रद्धालु ही ज्ञान प्राप्त करता है। यथार्थ ज्ञानके द्वारा ही जीवनका और जीवनके साथ सब कुछका सदुपयोग होता है।

संसारमें वे ही यथार्थ ज्ञानी, संत और महापुरुष कहे जाते हैं जो सभी अवस्थाओं और परिस्थितियोंका सदुपयोग करते हैं। वे बलवान् होकर निर्बलोंके संरक्षक होते हैं, अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये उत्पीड़क, शोषक और संहारक नहीं होते; वे विद्वान् होकर परार्थी और परमार्थी होते हैं; इन्द्रियार्थी, सुखार्थी और अनर्थकारी नहीं होते। वे धनवान् होकर उदार हृदयसे धर्म और कर्तव्य-पथमें दानी होते हैं; कृपण, दरिद्र और कंजूस नहीं होते। वे सुख-सम्पत्ति पाकर दुखियोंकी सेवा करते हैं, मिथ्याभिमानी और भोगी नहीं बनते। वे सर्वाधार परमात्माके योगी भक्त होते हैं, देहादि अनात्म पदार्थोंके संयोगाभिमानी बनकर विभक्त नहीं होते। महापुरुष ही भूले हुए लोगोंके पथ-प्रदर्शक हैं, पतितोंको उठानेवाले हैं।

तुम बुद्धिशाली होकर विद्वान् बनो और विद्याके द्वारा संसारकी प्रत्येक वस्तु और व्यक्तिके पीछे सर्वाधार सत्यका ज्ञान प्राप्त करो, शक्ति-संचयकर तुम दूसरोंका हित ही करो, अहित नहीं; परोपकारी बनो, अपकारी नहीं; गिरतेको उठानेवाले बनो, किसीको गिरानेवाले नहीं। ऊपरकी ओर बढ़ो, नीचेकी ओर न देखो! परमात्माके भक्त बनो, संसारमें आसक्त नहीं। प्रत्येक आकृतिके पीछे प्रकृतिको देखो, प्रकृतिके पीछे कारण-तत्त्वको देखो। क्रियाके पीछे भाव और भावके पीछे विचार देखना ही बुद्धिका सदुपयोग है। बुद्धिके सदुपयोगद्वारा मोह, माया, मान, सुख तथा दुःखके बन्धनसे, सांसारिक पदार्थोंकी ममता एवं अहंकारसे मुक्त होकर परम शान्तिको प्राप्त होना ही जीवनका सदुपयोग है।



कलियुगकी महिमा

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

—तुलसीदासजी



सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(सङ्कलनकर्ता—एक सत्सङ्गी)

(१) भगवान्‌के अवतार दो प्रकारके होते हैं—जनानुकरणयुक्त और जनानुकरणरहित । कच्छप, नृसिंह आदि अवतार जनानुकरणरहित हैं; इनमें भगवान् किसी माता-पितासे जन्म ग्रहण नहीं करते; भगवान् गर्भमें रहे, ऐसी लीला नहीं होती । पर जनानुकरणयुक्त अवतारोंमें उनको स्वप्रकाशिका शक्ति माता-पिताके रूपमें अवतरित होती है, क्योंकि भगवान् ज्ञानमय हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, उनका विशुद्ध सत्त्वके बिना प्राकट्य नहीं होता ।

(२) हमारा ज्ञान चित्तकी वृत्तिविशेष है, भगवान्‌का ज्ञान स्वरूपभूत है । अतएव भगवान्‌का नाम 'ज्ञानस्वरूप' है ।

(३) संसार-नदीसे तरनेके लिये सुनिश्चित नौका भगवच्चरणारविन्द ही है । साधारण नदीसे पार जानेपर भी आना-जाना लगा ही रहता है; पर भव-नदी कुछ विचित्र है । यहाँसे जो उस पार चला जाता है, वह कभी वापस नहीं आता । और इस भव-नदीसे पार होना श्रीगोविन्द-चरण-नौकाके बिना प्रायः सम्भव नहीं है । जो लोग नौकासे नदी पार करते हैं, वे नौकाको साथ ले जाते हैं और जबतक वे नहीं लौटते, इस ओरवाले पार नहीं हो पाते । श्रीभगवच्चरण-नौकासे पार होनेवाले भव-नदी पार होनेपर लौटते तो नहीं, पर नौकाको यहीं छोड़ जाते हैं, जिससे जो चाहे उसका आश्रय लेकर सहज ही पार हो जाय ।

(४) असंख्यों वीर चाहे करोड़ों वर्षोंतक नाना शस्त्रादिसे अन्धकारको मारें-काटें, पर वह मरता और कटता नहीं; किंतु जरा-सी प्रकाशकी किरण आयी कि वह अभेद्य अन्धकार विलीन हो जाता है । ऐसे ही भगवान्‌के चरणोंका आश्रय न करके करोड़ों दूसरे प्रयत्न किये जायँ, पर यह भव-सागर 'गोष्पद' नहीं होता । जो भगवान्‌के शरणापन्न हो गये, उनके लिये भव-सागर तरना बड़ा तुच्छ कार्य है ।

(५) कोई चाहे वह हाथ-पैर मारकर इस भवार्णवसे पार हो जाय तो कभी भी सफल नहीं होता । पर जो 'अगतिके गति'के चरणोंकी शरण हो जाता है, वह पार पहुँच जाता है ।............भगवान्‌के चरण सबके लिये प्राप्त होनेपर भी मूढ़ जीव उनकी ओर नहीं जाता ।

(६) जबतक भगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं होता, तभीतक यह भवार्णव भयानक एवं दुस्तर है । पर जहाँ श्रीभगवच्चरणारविन्दका आश्रय हुआ कि यह तुच्छ गोष्पद हो जाता है । गोष्पद ही नहीं, सूख जाता है —नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं ।

(७) भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि—किसीकी भी कामना न कर शुद्ध प्रेमभावसे श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति करना ही श्रीभगवच्चरणाश्रय है । शुद्ध भक्तिमें केवल प्रेमपरिपूर्ण हृदयसे भगवान्‌की लीलाका श्रवण, मनन एवं चिन्तन रहता है; उसमें यही साधन और यही फल है ।

(८) सत्कुलका क्या अर्थ है ?—जिस कुलके लोग संसारसे मुक्त हों, जिस कुलमें शास्त्रोंकी मर्यादाका पालन होता हो, जो कुल मोक्षकी ओर जानेवाले लोगोंसे युक्त हो ।............सत्कुलमें जन्म होना, शास्त्रका अध्ययन करना और तपपरायण होना—ये मोक्षकी तीन सीढ़ियाँ हैं ।

(९) श्रीभगवान्‌के चरणोंकी शरण होनेपर फिर विद्या, तप, कुल आदिकी भी आवश्यकता नहीं रहती । जो श्रीगोविन्द-चरणाश्रित न होकर मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये कुल, शास्त्राध्ययन एवं तपकी

आवश्यकता होती है (और उसमें भी यह निश्चय नहीं कि वे अपने प्रयत्नमें सफल हो ही जायँ)।

(१०) जो सती पतिपरायणा है, वह शृङ्गार आदिसे रहित भी हो, तो भी पति उसकी सेवासे प्रसन्न होकर उससे प्रेम करता है। ऐसे ही जो भक्त भगवान्‌की सेवामें रहते हैं उनके लिये कुल, तप आदि बाहरी गुणोंकी आवश्यकता नहीं है। उनकी विशुद्ध सेवासे ही प्रसन्न होकर भगवान् उनपर कृपा करते हैं।

(११) जो श्रीभगवान् और उनके भक्तोंका अपमान करते हैं उनपर कभी भी कृपा नहीं होती। श्रीभगवान् और उनके भक्तोंका चरणाश्रय ही जीवको पार करता है। और सच तो यह है कि श्रीभगवत्-भक्त-चरणाश्रयके बिना श्रीभगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं प्राप्त होता।

(१२) भगवान्‌के भक्तोंकी अवज्ञा करके अथवा उनके साथ सम्बन्ध न रखकर जो भजन करता है, उसका भजन व्यर्थ जाता है।

(१३) भक्तिमार्गका साधक बड़ा चौकन्ना रहता है; वह डरता है कि मुझसे कोई अपराध न बन जाय। अतएव उससे ज्ञानकृत (जान-बूझकर किये गये) अपराध नहीं होते। जो ज्ञानके उपासक हैं उनसे भी जान-बूझकर कोई अपराध नहीं बनते। पर जो लोक-प्रतारणाके लिये ज्ञानका दम्भ करते हैं, उनके द्वारा ज्ञानकृत अपराध होते रहते हैं। निरन्तर चौकन्ना रहनेपर भी भक्तके द्वारा अज्ञानकृत अपराध तो बन ही जाते हैं। पर भक्तोंको भगवान्‌का सहारा होता है, वे भगवान्‌के आश्रित होते हैं; उन्हें बचानेवाले भगवान् विद्यमान हैं। अतएव अज्ञानकृत अपराधोंसे भगवान् उन्हें मुक्त कर देते हैं।

(१४) भगवान्‌के परम आश्रित जो अनुरागी भक्त हैं उनका मन पाप-पुण्यसे दूर होता है; वे पाप-पुण्यका चिन्तन नहीं करते; वे चिन्तन करते हैं भगवान्‌का। उनके मनमें सिवा भगवच्चिन्तनके और कुछ होता ही नहीं। अतएव निषिद्ध कर्मोंमें—पापोंमें उनका मन जाता ही नहीं। पर कहीं अनजानमें कोई पाप हो भी जाय तो भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं।

(१५) वनमें आग लगती है तो पेड़ जल जाते हैं, परंतु उनकी जड़ शेष रह जाती है। ऐसे ही अन्यान्य साधनोंसे जिन पापोंका नाश होता है वे निर्मूल नहीं होते; उनकी जड़ प्रायः रह जाती है। पर जिन्होंने श्रीभगवान्‌का चरणाश्रय ले रक्खा है उनके पाप समूल नष्ट हो जाते हैं; उनके पापोंके पुनः अङ्कुरित होनेका डर नहीं रहता।

(१६) भगवान्‌के चरणोंका आश्रय करनेपर जीवको अनायास मुक्ति मिलती है, पर भगवान्‌के चरणोंका अनाश्रय करनेपर विभिन्न साधनोंके द्वारा सिद्धिके पदपर आरूढ़ होनेपर भी स्खलन—पतन हो जाता है।

(१७) भक्तिसे रहित जो ज्ञान या योग है वह ब्रह्मका साक्षात् तो कराता है, पर उसमें बड़े विघ्न हैं; किंतु भक्तियोग परम स्वतन्त्र है, विघ्नरहित है। उसमें श्रीगोविन्द-चरणोंका आश्रय रहता है। भक्ति निरपेक्ष है। अतएव भक्तिके उपासकको ज्ञान, योग आदिकी आवश्यकता नहीं रहती।

(१८) भक्त प्रारम्भसे ही भगवत्कृपाकी डोरीसे बँधे हुए चलते हैं। अतएव जहाँ पैर फिसला कि भगवान्‌ने डोरी खैंची। इससे भक्त कभी गिरते नहीं।

(१९) जो श्रीभगवान्‌के चरणाश्रित भक्त हैं, उनकी नित्य प्रार्थना होती है कि हमें चरण-सेवा मिलती रहे। अतएव भगवान् अपने स्वभाववश उन्हें अपनी चरण-सेवा ही देते हैं।

(२०) भगवान्‌के चरणोंका आश्रय करके जो

भगवान्‌के हो जाते हैं, वे कभी गिरते नहीं; क्योंकि भगवान् उनकी रक्षा करते हैं। भक्त किसी भी प्रकारके विघ्नसे डरते नहीं, क्योंकि विघ्नोंका नाश करनेवाले भगवान् उनके सहायक जो हैं। विघ्नोंका सेनापति भी आ जाय तो भी वे विचलित नहीं होते।

(२१) भक्तोंमें निरन्तर दैन्य बढ़ता रहता है। पद-पदपर भगवत्कृपाका अनुभव करते रहनेसे उनमें सरलता बढ़ती है और भगवान्‌की कृपाको निरन्तर अनुभव करनेकी लालसा बढ़ती है। अतएव वे कभी गिरते नहीं और कहीं गिरते भी हैं तो भगवान् अपने-आप उनको बचाते हैं, उनका निर्वाह करते हैं और उन्हें अपने धाममें ले जाते हैं।

(२२) भगवान्‌की स्वप्रकाशिका शक्ति है विशुद्ध सत्त्व; वही वसुदेव हैं। श्रीभगवान् उससे अपनेको प्रकट किया करते हैं।

(२३) भगवान्‌के रूपदर्शनमें उनकी कृपा कारण है, न कि भौतिक प्रकाश। भगवान्‌की कृपा होनेपर अन्धा मनुष्य भी घने अन्धकारमें भी उनके दर्शन कर सकता है। पर भगवान्‌की कृपा न होनेपर करोड़ों सूर्योंका प्रकाश तथा करोड़ों आँखें प्राप्त होनेपर भी उनका दर्शन नहीं हो सकता।

(२४) सारे दुःखोंका आत्यन्तिक नाश हो जाय और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाय—यह भगवान्‌के चरणोंकी कृपा बिना नहीं होता। कर्मफलरूप स्वर्गादि-की प्राप्ति हो सकती है, पर वहाँ दुःखोंका आत्यन्तिक क्षय नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म-सायुज्यमें जीवोंके दुःखोंका तो आत्यन्तिक नाश हो जाता है पर उन्हें प्रेममय परमानन्दका भोग नहीं मिलता। श्रीभगवान्‌के चरणाश्रित भक्त आनन्द-समुद्रसे उठी हुई आनन्द-तरङ्गोंका उपभोग करते हैं।

(२५) भगवान्‌का श्रीविग्रह क्या है?—दिव्य अनन्त आनन्दकी घनीभूत मूर्ति। क्षुद्र विषय-सुखसे लेकर ब्रह्मानन्दतक सब उस घनीभूत आनन्द-समुद्रके बिन्दुकण मात्र हैं।

(२६) भक्तोंकी उत्कण्ठासे ही भगवान् अपनी नित्य सिद्ध मूर्तिको प्रकट करके लीला करते हैं।

(२७) जीव अपने दुःखकी गाथा भगवान्‌के सामने रखना जाने या न जाने, भगवान् उसके लिये जो हित है, वह स्वतः करते रहते हैं। पर जब किसी-पर दुःख पड़ता है, तब वह भगवान्‌के अन्तर्यामी स्वरूपको जानते हुए भी चिल्ला उठता है—'भगवन्! मेरी रक्षा करो।' बस, यहींपर गलती होती है।

(२८) भगवान् जगत्‌में आते हैं—रसास्वादनके लिये; अपने दिव्य आनन्द-रसका स्वयं पान करनेके लिये; अपने सखाओंके द्वारा सख्यरसका, अपने प्रेमियों-द्वारा मधुररसका और अपने माता-पिता आदिके द्वारा वात्सल्य-रसका। इन रसोंका भगवान् स्वयं आस्वादन करते हैं और अपने माता-पिता-सखा आदिको कराते हैं।

(२९) भगवान्‌का जन्म अलौकिक है। वात्सल्य-प्रेममयी कौसल्या या देवकी-यशोदाको इस प्रकारकी प्रतीति होती है कि मेरे पेटमें बालक है तथा गर्भके सब लक्षण भी दीखते हैं। पर वास्तवमें भगवान् न तो जीवकी भाँति गर्भस्थ होते हैं और न माताके खाये हुए अन्नसे बनते हैं। जो गर्भस्थ होता है तथा माताके खाये हुए अन्नसे बनता है, वह अविनाशी नहीं होता, न दिव्य ही होता है। पर भगवान्‌का शरीर तो सच्चिदानन्दस्वरूप है, भगवान् ही है।

(३०) अन्तर्यामीरूपमें भगवान् सबके हृदयमें हैं, पर प्रेमियोंके हृदयमें वे प्रेमके सम्बन्ध-रूपसे रहते हैं, जैसे वात्सल्यभाववालेके हृदयमें पुत्ररूपमें, माधुर्य-भाववालेके पतिरूपमें, सख्यभाववालेके सखारूपमें आदि।

(३१) भगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपका दर्शन किसीको होना, न होना—यह भगवान्‌की इच्छा-पर निर्भर है ।

(३२) मनुष्य भगवान्‌को देखकर भी अपनी बहिर्मुखताके कारण विपरीत भावको प्राप्त होता है और भगवान्‌के माधुर्यको नहीं देख पाता । प्रेमी भक्तोंमें भी प्रेमके तारतम्यके अनुसार आनन्द-आस्वादनमें तारतम्य होता है ।

(३३) श्रीकृष्ण-प्रेमका यह स्वभाव है कि भक्त अपनेको तो भूल जाता है, पर श्रीकृष्णके साथ अपना क्या सम्बन्ध है और उनकी सेवा क्या, कैसे करनी है—यह वह कभी नहीं भूलता ।

(३४) भगवान्‌को देखनेकी, पानेकी वासना-कामना जिनके मनमें जाग्रत् हो जाय—वहाँ कोई बन्धन रहता है क्या ? बन्धन तभीतक है, जबतक हमारे मनमें जगत्‌के भोगोंकी वासना है ।

(३५) दो प्रकारके संसारमें लोग हैं—दीन और अदीन । अधिक लोग दीन हैं, दीनात्मा हैं—यह चाहिये, वह चाहिये, इसकी कमी है, उसकी कमी है—अर्थात् वे जीवनभर त्रुटिका ही अनुभव करते रहते हैं।····जो कामनावाले हैं, जिनके मनमें तृष्णा है, जो सदा अभावका अनुभव करते हैं वे दीन हैं । वे सदा दुखी रहते हैं । दूसरी श्रेणीके लोग अदीन हैं, जिनको कभी किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती । ऐसे अदीन वे हैं, जो सदा भगवान्‌के भावमें तन्मय रहते हैं, जिन्हें कभी भी अभावका बोध होता ही नहीं ।

(३६) कोई भाग्यवान् व्यक्ति निष्कामभावसे भगवान्‌की भक्ति करता है तो भगवान् अपने सच्चिदानन्द-विग्रहसे उसके सामने प्रकट होते हैं । पर श्रीभगवान्‌को-भजकर, भगवान्‌की आराधनाके बदलेमें भगवत्प्रेमके बदलेमें जो भुक्ति, मुक्ति और सिद्धि चाहते हैं वे भक्त ही नहीं हैं, वे भक्तिके महत्त्वको जानते ही नहीं । भुक्ति, मुक्ति और सिद्धि—ये भक्तिके वास्तविक फल नहीं हैं; भुक्ति, मुक्ति और सिद्धि तो भक्तिकी चेरी हैं । वस्तुतः भगवान्‌के दिव्य लीला-विग्रहका दर्शन, उसकी सेवा—यही भक्तिका, भगवत्प्रेमका फल है ।

जिंदगी बेकार न हो जाय

डरते रहो यह जिंदगी बेकार न हो जाय।
सपने में किसी जीव का अपकार न हो जाय॥
सेवा करो निज धर्म की शुभकर्म हरि-भजन।
इतना भी करके तुम को अहंकार न हो जाय॥
पाया है तन अमोल सदाचार के लिये।
विषयों में फँस के तुम से अनाचार न हो जाय॥
मंजिल असल मुकाम की तै करना है तुम्हें।
जग ठगनगर में फँस के गिरफ्तार न हो जाय॥
'माधव' लगी है बाजी माया-मोह-जाल से।
धोखे में पड़ के अब की कहीं हार न हो जाय॥ —'माधव'

मैं परीक्षाके योग्य नहीं

('दुर्गेश')

मैं बढ़ती जाती थी अल्हड़ बालिका-सी निश्चिन्त। न कोई उद्देश्य था, न उसकी पूर्तिकी चिन्ता थी। हाय! अचानक देखा तुमको हृदयाङ्गनमें खड़े और बस, तभीसे उस जीवनक्रममें गड़बड़ी आ गयी। पहले मेरे सामने न कोई पाप था, न पुण्य। अपने आमोद-प्रमोदमें मस्त रहना ही कार्य था इस जीवनका। परंतु अब? अब क्या, जीवन ही कुछ पलट-सा गया। कुछ पीड़ाका अनुभव हुआ, कुछ प्यारका और मिली बढ़ती हुई अलमस्ती। मैंने हृदयासन बिछा दिया तुम्हारे विराजनेके लिये, किंतु मायाके झोकोंने सब अस्तव्यस्त कर दिया। तुम मायाके पर्देकी ओटमें खड़े मुसकराते रहे। मैं पुनः अपने मायिक साथियोंके साथ खेलने लगी। मुझे मायामें फँसी देख एक ठोकर दी तुमने, पर्दा हिला, मुझे कुछ चेत हुआ जैसे स्वप्नसे जागी होऊँ। कुछ समयतक यही क्रम चला। कभी दुःखके, कभी सुखके विकारसे ग्रस्त हो मैं तुम्हें भूलती। तुम मुझे प्यारकी थपकी दे-देकर जगाते, सान्त्वना देते। पता नहीं, कबसे—कब तुमने हृदयपर आसन जमा दिया। मैं कृतार्थ हो गयी। एक दिन अचानक इस देहका भाई चल बसा। मैं विकल हो तुम्हारे चरणोंपर गिर पड़ी। मैंने अनुभव किया तुम अपने दयार्द्र हस्तकमल मेरे घावोंपर फेर रहे हो। मैं गद्गद हो गयी। एक दिन सुना मैंने,—तुमने मेरा तबादला—स्थानान्तर (कन्यासे गृहिणीके रूपमें)········से·······ग्राममें कर दिया। मैं दंग रह गयी। अब क्या करूँ। स्थानोंसे तो मुझे कुछ भी उलझन नहीं। तुम्हारी कृपासे मेरे लिये स्वर्ग और नरक भी बराबर है। केवल तुम मेरे हृदयमें बसे रहो! उलझन तो इस बातकी है कि यदि तुमने मेरे हृदयका एक कोना भी रिक्त छोड़ा होता तो उसमें मैं अपने नये स्वामी—इस देहके स्वामीका आसन लगाती! मैं तुम्हारे चरणोंको पकड़कर रो पड़ी, किंतु तुम गम्भीर ही बने रहे। मेरा हृदय टूटने लगा! तुम्हारी इच्छाको भला कौन रोक सकता है? इस देहका विवाह कर दिया गया। मैंने समझा, मेरी किसी कमीको पूर्ण करनेके लिये, किसी अधूरी साधनाकी पूर्ति करानेके लिये ही मेरे प्रभुने यह अपना प्रतीक प्रकट किया है। मैंने भी इनको अपने प्रभुका प्रतीक समझकर चरणोंमें सिर रख दिया। मैंने अपने हृदयमें देखा—तुम्हारा हस्तकमल सस्नेह मुझपर फिर रहा है। मेरी सारी उलझनें सुलझ गयीं। दिल हल्का हो गया। आज सवा साल हो चुका मुझे इस स्थितिमें। मैं अनुभव करती हूँ—विषयवासनाओंके झोंके आते हैं, मैं काँप उठती हूँ। मैंने समझा, प्रभुने हृदयासनका त्याग कर दिया, पर देखती हूँ तुम पूर्ववत् विराजमान हो। तब क्या मेरी परीक्षा ले रहे हो? प्रभो! मैं परीक्षाके योग्य नहीं, दयाके योग्य हूँ। यदि मैं तुमको भूलकर कहीं विषयोंमें फँस गयी तो तुम्हारा ही इतना उद्योग व्यर्थ जायगा। इसीलिये निवेदन करती हूँ कि मैं परीक्षाके योग्य नहीं!

मैं निश्चिन्त हो चुकी अर्पण कर तुझको तन-मन-जीवन।
हे नाविक! ले चल मुझको अब वहीं, जहाँ हो तेरा मन॥

आहार-शुद्धि

(लेखक—श्रीहरिरामजी गर्ग)

सब साधनोंमें प्रथम साधन अन्नकी शुद्धि है। जबतक अन्न शुद्ध न होगा, तबतक कोई साधन हो ही नहीं सकता। अन्नशुद्धिके विना साधन किये भी जायँ तो फलप्रद नहीं होते। अशुद्ध अन्नके सेवनसे पवित्र पुरुषका मन भी मलिन हो जाता है। इसीलिये ऋषियोंने अन्नशुद्धिपर बहुत विचार किया है। अन्नकी अशुद्धिमें संतों एवं शास्त्रोंने तीन दोष बतलाये हैं—

१—उपाय-दोष—कपट, झूठ, छल, अन्याय आदिसे द्रव्योपार्जन। व्यापारमें झूठ, छल, विश्वासघात, चोरी, नौकरीमें घूसखोरी, कामचोरी तथा जुआ, डकैती, ठगी, चोरी आदिसे जो धन आता है, वह दूषित है।

२—स्वरूप-दोष—गीताजीमें वर्णित रजोगुणी एवं तमोगुणी पदार्थ। ऐसे पदार्थ जो शीघ्र न पचें, कब्ज करें, बुद्धिको विकृत करें या वीर्यक्षय करें।

३—क्रिया-दोष—रसोई-स्थानकी तथा बर्तन आदिकी अशुद्धि, रसोई बनानेवालेकी शारीरिक एवं मानसिक अशुद्धि, रसोई बनानेकी विधिमें अशुद्धि, भोजन करनेवालेकी शारीरिक एवं मानसिक अशुद्धि, बलिवैश्वदेव न करना, भगवदर्पण किये बिना भोजन करना। अतिथि-साधु आदिको अन्न न देना। बालक, वृद्ध, गर्भिणी स्त्री, रोगीसे पहले भोजन करना। भोजनमें भेदभाव करना। सेवकों, घरके सदस्योंको स्वादिष्ट पदार्थोंका उचित भाग न छोड़ना। भूखसे अधिक भोजन करना। पङ्क्तिभेद और दृष्टि-दोष आदि।

इनमेंसे प्रत्येक दोषपर पृथक्-पृथक् विचार करना सुविधाजनक है।

उपाय-दोष

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनुस्मृति ५। १०६)

समस्त शौचोंमें अर्थशौच प्रधान है। जो पदार्थ उपार्जनमें पवित्र है—न्यायोपार्जित है, वही वस्तुतः पवित्र है। जो अधर्म या अन्यायसे उपार्जित है, वह स्वरूपसे पवित्र होने तथा मिट्टी और जलद्वारा पवित्र किये जानेपर भी पवित्र नहीं है। अतएव अन्नदोषोंमें सर्वप्रथम स्थान उपार्जनकी अपवित्रताका है। जो अन्न न्याय एवं धर्मपूर्वक पैदा नहीं किया गया है, जो अन्याय तथा अधर्मके द्रव्यसे आया है, वह चाहे जितना सात्त्विक हो, शुद्ध रीतिसे बनाया जाय, पर वह हमारी बुद्धिको अवश्य मलिन करेगा।

शास्त्रकारोंने अपने-आप न्यायपूर्वक उपार्जित धनको उत्तम धन माना है। पैतृक सम्पत्तिपर निर्वाह करना मध्यम स्थिति मानी गयी और माताकी निजी सम्पत्तिसे समर्थ पुत्र जीविका चलाये, यह निकृष्ट स्थिति है। और स्त्री-धन—पत्नीके पितृगृहसे प्राप्त सम्पत्ति तो पुरुषके लिये अत्यन्त निन्दित मानी गयी है। यह समाजका दुर्भाग्य है कि लड़कोंके माता-पिता लड़केके विवाहके अवसरपर और पीछे भी लड़केकी स्त्रीके माता-पिता आदिसे अधिक-से-अधिक सम्पत्ति लेनेका प्रयास करते हैं। यह धन—'दहेज'में प्राप्त यह सम्पत्ति सर्वथा निन्दित है। यह स्त्री-धन तो कन्याके माता-पिता आदिकी प्रसन्नतासे जितना आये, उतना ही उचित है और वह भी उस कन्याके पतिकुलके उपयोगमें नहीं आना चाहिये। वह तो स्त्री-धन है और सर्वथा उस स्त्रीके लिये ही सुरक्षित रहना चाहिये।

दानका द्रव्य आपत्तिकालको छोड़कर ब्राह्मणको भी नहीं लेना चाहिये। शूद्र, अन्त्यज, विधर्मी, आचारहीन, अधर्मपरायण, वेश्या तथा राजाका द्रव्य सबके लिये सर्वथा ही त्याज्य है। इनके अतिरिक्त, वे सब धन और पदार्थ भी वर्जित हैं, जो न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त न हुए हों। यदि ऐसा कोई पदार्थ, जो न्यायोपार्जित नहीं है या उपर्युक्त लोगोंमेंसे किसीका है, प्राप्त होता है और उस उपहारको अस्वीकार करना उचित नहीं लगता, तो उसे लेकर तुरंत किसी अच्छे कार्यमें लगा देना चाहिये। उसको अपने उपयोगमें तो नहीं ही लेना चाहिये।

न्यायपूर्वक अपने श्रमसे जो द्रव्य उपार्जित किया जाय, उसका भी दशांश दान करनेपर जो बचे, वही शुद्ध द्रव्य है और उसीसे प्राप्त अन्न उपाय-दोषहीन शुद्ध अर्थ है। उपार्जनके सम्बन्धमें भी प्रत्येक वर्ण एवं आश्रमके लिये शास्त्रने कुछ मर्यादाएँ निश्चित की हैं। उन मर्यादाओंकी रक्षा करते हुए उपार्जन ही धर्मोपार्जन है। अतः उन मर्यादाओंपर भी विचार करना चाहिये।

ब्राह्मणकी आजीविका विद्या पढ़ना-पढ़ाना, दान लेना, यज्ञ कराना आदि कही गयी । ब्राह्मणको मूल्य निश्चित करके अध्यापन नहीं करना चाहिये । उसे कर्तव्यबुद्धिसे ही बिना भेदभावके अध्यापन करना चाहिये । शिष्य तथा उनके अभिभावक श्रद्धापूर्वक जो भी दें, प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेना चाहिये तथा अधिककी माँग नहीं करनी चाहिये । इसी प्रकार दक्षिणा निश्चित करके जप, पाठ, यज्ञ आदि करना भी ब्रह्म-विक्रय कहा गया है और इसे अत्यन्त निन्दित कर्म माना गया है । ब्राह्मणको दान केवल द्विजातिसे लेना चाहिये। और उसमें भी राजा, कदाचारी, अधर्मीका या अन्यायोपार्जित द्रव्य नहीं लेना चाहिये । जो दान निष्कामभावसे दाता दे रहा हो, वही उत्तम है । ब्राह्मण-बालकोंको भी जहाँतक सम्भव हो, घरके द्रव्यसे ही अध्ययन करना चाहिये । आजकल प्रायः तामस दान ही प्राप्त होता है । अधर्मी लोग अन्यायोपार्जित द्रव्य किसी कामनासे ही देते हैं । ऐसे द्रव्यसे प्राप्त अन्न बुद्धिको विकृत करता है । फलतः अनेक दोष बालकोंमें आते हैं । यदि ब्राह्मणका काम इनसे न चले तो उसे क्षत्रिय या वैश्यके समान आजीविका करनी चाहिये ।

क्षत्रियोंके लिये प्रजाकी रक्षा करना और ब्राह्मणको छोड़कर शेष वर्गसे प्राप्त करपर जीवन-निर्वाहका शास्त्रोंने विधान किया है । पर वर्तमान समयमें ऐसी आजीविका रह ही नहीं गयी । अब तो सेनामें भर्ती होना या फिर वैश्यकी आजीविका—यही बची है । सेनामें आजकलका ढंग केवल नौकरीका है और यह शूद्रवृत्ति है । ब्राह्मण और क्षत्रियको आपत्तिमें भी शूद्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ।

वैश्योंके लिये व्यापार, खेती और गोपालन आजीविकाके शास्त्रीय साधन हैं । शुद्ध व्यापार वही है जिसमें झूठ, छल, कपट, अन्याय और छिपावसे काम न लिया जाय । व्यापारीको जुआ नहीं खेलना चाहिये और यह स्मरण रखनेकी बात है कि सट्टा भी जुआ ही है । ग्राहक चाहे जो हो, सबको आदरपूर्वक समान भावसे वस्तु देनी चाहिये । न तो कम तौलना या नापना चाहिये और न दूसरे किसी प्रकारसे धोखा देनेका प्रयत्न करना चाहिये । निषिद्ध वस्तुओंका व्यापार नहीं करना चाहिये । इनमें नील, चपड़ा, लाख, सींग, हड्डी, चमड़ा, चर्बी, मादक द्रव्य—अफीम, गाँजा, तम्बाकू, सिगरेट, बीड़ी-शराब आदि तथा हानिकर पदार्थ—नकली घी-जैसे द्रव्य तथा वे पदार्थ, जिनमें मांस, अण्डे आदि पड़ते हों—जैसे अपवित्र बिस्कुट प्रभृतिका व्यवसाय अच्छा नहीं है । किसी वस्तुमें कोई मिलावट नहीं करनी चाहिये और यदि वस्तुमें कोई दोष हो अथवा किसी प्रकार रखनेसे, पुरानी होनेसे आ गया हो तो उसे स्पष्ट ग्राहकको बता देना चाहिये ।

सभी प्रकारके व्यापारोंमें जो छल और ग्राहकको ठगने तथा उससे अधिक-से-अधिक पैसा लेनेकी वृत्ति चल पड़ी है, यह अधर्म है । घी, तेल, अन्न, दूध आदि पदार्थोंमें दूसरे द्रव्य मिला देना, एक नमूना दिखाकर दूसरा माल दे देना, उचितसे अधिक मूल्य लेना आदि कार्य पाप है । इसी प्रकार अपवित्र वस्तुओंका व्यवसाय और उन्हें दूसरारूप देना भी पाप है । सबको सचाई, ईमानदारी, शुद्धताका पूरा ध्यान रखकर ही व्यापार करना चाहिये । ऐसा शुद्ध व्यापार निष्कामभावसे किया जाय तो परमार्थका उत्तम साधन हो जाता है ।

व्यापारमें जो उत्पादक वर्ग है, उसको विशेष सावधान रहना चाहिये । किसी हानिकर वस्तुका उत्पादन न किया जाय । नकली घी, शराब, सिगरेट, नकली तैल आदिका उत्पादन अधर्म है । ऐसे ही जो पुस्तकोंके प्रकाशक हैं, उन्हें भी गंदे, विकारोत्पादक, धर्मविपरीत साहित्यका (ग्रन्थ और पत्र आदिका) प्रकाशन नहीं करना चाहिये । गंदे चित्रादि सर्वथा ही नहीं छापने चाहिये ।

कृषिको व्यापारकी अपेक्षा उत्तम माना गया है; किंतु इसमें भी धर्मपूर्ण व्यवहार ही होना चाहिये । अन्न आदि जो बाजारमें लाया जाय, जैसा हो वैसा ही दिखाया और कहा जाय । उसे गीला न रक्खा जाय । धोखा देनेका प्रयत्न न किया जाय । पशुओंको पर्याप्त चारा दिया जाय । उनकी पूरी सेवा हो और उनसे क्रूरतापूर्वक काम न लिया जाय । उनकी शक्तिके अनुसार ही श्रम उनसे कराया जाय । अपने पशु दूसरोंके खेतोंमें न चराये जायँ । दूसरोंको किसी प्रकार हानि न पहुँचायी जाय । दूसरोंके खेतसे कुछ न लें । दूसरोंके अधिकारकी खाद, जल आदिका उपयोग न किया जाय । न्याय एवं धर्मपूर्वक ही सब व्यवहार हों । इसके साथ ही नील, लहसुन, प्याज, तम्बाकू आदि अपवित्र एवं हानिकर पदार्थ उत्पन्न न किये जायँ । खेतोंमें गंदी खाद न दी जाय । गोबरकी खाद दी जाय । खेतोंमें ही पशुओं, पक्षियों, बंदरों आदिका भी भाग है । इनके साथ क्रूरता नहीं करनी चाहिये । इनको हटानेमें दया और संयमसे काम लेना चाहिये । अन्नको अनुचित लाभ उठानेके लिये जमा नहीं करना चाहिये ।

गोपालन वैश्यकी तीसरी आजीविका है । गाय या

भैंसको पूरा चारा तब भी मिलना चाहिये जब वह दूध न देती हो । वृद्ध पशुओंकी सेवाका पूरा ध्यान रक्खा जाय तथा रोगी, अपंग पशुओंकी चिकित्सा, सेवा कर्तव्य समझा जाय । पशुओंके बच्चोंको कम-से-कम जबतक वे भली प्रकार दूसरे पदार्थ न खाने लगें; पर्याप्त दूध पीने देना चाहिये । उनका भी भाग दुह लेना तो बहुत नीच कर्म है; फिर फूँका आदि नृशंस उपायोंसे दूध लेनेके महापापकी तो चर्चा ही क्या । पशुओंके बच्चे जब दूसरे तृणादि खाने लगें, तब भी उनको कम-से-कम उनकी माताके दूधका कुछ अंश तो मिलना ही चाहिये । उनके चारेकी अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये । दूधमें, मक्खनमें, घृतमें जल या दूसरे पदार्थ मिलाकर बेचना सदा नैतिक अपराध है ।

इस प्रकार व्यापारमें सर्वत्र सत्य, ईमानदारी और शुद्धताका ध्यान रखने तथा उसका पूर्ण पालन करनेसे जो आय होती है, वही शुद्ध द्रव्य है और उनके द्वारा प्राप्त अन्न ही पवित्र अन्न है ।

शूद्रकी आजीविकाका साधन है सेवा । विशुद्ध भावसे उसे पूरी शक्तिसे सेवा करना चाहिये । सेवा तभी ठीक होगी जब मनमें सन्तोष हो । अधिक-से-अधिक पानेकी आशा और कम-से-कम श्रम करनेकी इच्छा अपराध है । सेवकको स्वामि-द्रोही अथवा कामचोर कभी नहीं होना चाहिये । और स्वामीको सेवकके प्रति अपनी ही सन्तानके समान स्नेह रखना चाहिये ।

जो लोग कहीं भी नौकरी करते हैं, उन्हें अपने अवैधरूपसे नियत वेतनसे अधिक कुछ पानेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये । घूस लेना तो पाप है ही, कागज, स्याही, लकड़ी, कोयला, टाट, पिन आदि कुछ भी बिना माँगे नहीं लेना चाहिये । आज सभी विभागोंमें घूसखोरी, अनुचित दबावसे लाभ, अधिक मूल्य लेनेकी निन्दित वृत्ति चल पड़ी है । यदि खराब सिक्का पा जायँ तो उसे छल-पूर्वक दूसरेको नहीं देना चाहिये । उसे तो फेंक देना ही ठीक है । जब इस प्रकारका नन्हा अपराध भी हमसे न होगा, तभी हम कामचोरी, घूस आदिसे बच सकेंगे ।

आज समाजमें स्त्रियोंको नौकरी दिलानेका आन्दोलन चल पड़ा है । स्त्रीद्वारा उपार्जित द्रव्य उसके पति एवं परिवारकी श्री, पुण्य आदिको क्षय करने-वाला होता है, अतः स्त्रियोंका दूकानपर बैठना, फेरी करना तथा नौकरी करना सर्वथा ही अनुचित है और इसमें दूसरे नैतिक दोष भी बहुत अधिक आ जाते हैं ।

कुछ भी हो, सत्यकी कमाई करनी चाहिये । सरकारी कर्मचारी, धर्मगुरु, नेता, शिक्षक, व्यवसायी, कृषक, ग्वाले, सुनार, तेली, बढ़ई, धोबी, चमार, दर्जी आदि सभी वर्गोंमें आज छल, चोरी, झूठ, धोखा देना, खराब या नकली पदार्थ मिलाना आदि अनुचित लाभ उठानेकी प्रवृत्ति वेगसे बढ़ गयी है । यह स्वयं उनके लिये ही हानिकर है । इससे पाप होकर परलोकका नाश तो होता ही है, इस लोकमें भी दुःख ही मिलता है । अन्याय और अधर्मसे आया अन्न बुद्धिको मलिन करता है, मनमें बुराइयाँ आती हैं और मनुष्य असंयमके द्वारा स्वास्थ्य, धन और यश सबका नाश कर लेता है । अतः न्यायो-पार्जित द्रव्यकी ही सबको इच्छा करनी चाहिये ।

जहाँ गृहस्थोंके लिये आजीविकाके उपर्युक्त उपाय हैं, वहीं साधुओंके लिये भी शास्त्रोंने उपाय निर्देश किये हैं । साधुके लिये शुद्ध अन्न अत्यन्त आवश्यक है । अपवित्र अन्न उसके मनको दूषित करेगा और इससे उसका पतन सम्भव है । साधुको द्विजातिके घरसे ही भिक्षा करनी चाहिये । शुद्ध, सात्त्विक गृहस्थोंके घरोंसे न्यायोपार्जित अन्नकी भिक्षा पाना आज सरल नहीं है । लेकिन जहाँतक सम्भव हो साधुको धर्मात्मा, सात्त्विक गृहस्थोंके घरसे ही भिक्षा प्राप्त करनी चाहिये । साधुके लिये द्रव्य-संग्रह और भोग-सामग्रियोंका उपयोग पाप है । उसे कलके लिये भी संचय नहीं करना चाहिये । उसे तो भिक्षामें जो प्राप्त हो जाय, उसीपर सन्तुष्ट होकर भगवच्चिन्तनमें अपना समय लगाना चाहिये ।

इस प्रकार सबको अपने वर्णाश्रम धर्म एवं सामाजिक स्थितिके अनुसार उचित रीतिसे, पवित्र व्यवसायद्वारा जो न्यायोपार्जित, धर्मानुसार द्रव्य प्राप्त होता है, वही शुद्ध अन्नका कारण है । उसीसे प्राप्त अन्न उपायतः शुद्ध है ।

स्वरूप-दोष

पवित्र न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त अन्नको भी स्वरूपतः शुद्ध होना चाहिये । अन्न तीन प्रकारका होता है— १. सत्त्वगुणयुक्त, २. रजोगुणयुक्त और ३. तमोगुणयुक्त । भगवान्‌ने इनका विवेचन गीताके सत्रहवें अध्यायमें किया है । जो अन्न बुद्धिवर्धक हो, वीर्यरक्षक हो, उत्तेजक न हो, कब्ज न करे, रक्त दूषित न करे, सुपाच्य हो—वह

शुद्ध सत्त्वगुणी कहा जाता है। साधकको स्वादकी आसक्ति छोड़कर उसीका सेवन करना चाहिये।

मांस, मदिरा, मछली, अण्डे, लहसुन, प्याज, गाजर, शलजम, बैंगन, मसूरकी दाल, बिस्कुट, सोडावाटर, डबलरोटी, स्पिरिट या मदिरा मिली ओषधियाँ, मांस, यकृत्, चित्त-ग्रन्थि आदिसे बनी ओषधियाँ, नील या चर्बी पड़ी चीजें, वनस्पति घी, चाय, लाख, तम्बाकू, सिगरेट, गाँजा, भाँग, अफीम, विलायती दूध आदि अपवित्र, मादक या दूषित पदार्थ बुद्धिको मलिन करनेवाले होते हैं।

गेहूँ और जौ सत्त्वगुणी अन्न है। साधकके लिये ये उत्तम हैं। इन अन्नोंको भाड़में भून देनेपर ये रसहीन रूक्ष होकर रजोगुणी हो जाते हैं, अतः ऐसा करना ठीक नहीं है। चनेका अधिक उपयोग वायुकारक होता है। भुने चने छिलके साथ ही उपयोगी होते हैं। कच्चे चनेको छिलके सहित भिगाकर खाना बलकारी होता है। चनेका छिल्का नहीं उतारना चाहिये। यही बात मूँगके सम्बन्धमें भी है। मक्का वायुप्रधान और रजोगुणी अन्न है। इसके हरी 'बालों'का भी यही गुण है। दालोंमें मूँग, मोठ, अरहर श्रेष्ठ हैं, पर इन्हें पीसकर इनकी रोटी बनाना ठीक नहीं। ज्वार और कोदों तामस अन्न हैं तथा बाजरा राजस अन्न है। दालोंमें उड़द राजस है। उड़द बुद्धिको स्थूल करता है और वायुको विकृत भी करता है। मूँग यदि धोया न जाय तो हल्का सत्त्वगुणयुक्त है। अरहर भी मूँगके समान ही है; किन्तु मोठ राजसिक है।

सिंघाड़े प्रायः व्रतके अवसरपर उपयोगमें आते हैं, ये प्रायः खुश्क होते हैं और कब्ज करते हैं। इनके स्थानपर दूसरे पदार्थ काममें लेना उत्तम है। साबूके चावल बाँसके बीज ये दोनों उत्तेजक हैं। आलू गरम, वायुप्रधान और कब्ज करनेवाला कंद है। शहरोंके वे सब शाक जो गंदे नालेके जल या गंदी खादसे उत्पन्न किये जाते हैं, नितान्त तामसिक होते हैं। ये बुद्धिमें तमोगुणकी वृद्धि करते हैं।

जिन देशोंमें चावल अधिक होता है, उन देशोंके लोगोंके लिये वही हितकर है। जो पदार्थ शीघ्र न पचें, उन्हें रजोगुणी न हों तो भी उपयोगमें नहीं लेना चाहिये। जिन पदार्थोंका एक साथ सेवन वर्जित है, जैसे दूध और नमक, ऐसे संयोगविरुद्ध पदार्थ भी त्याज्य ही हैं। लालमिर्च, गरम मसाला, चटनी, अचार, तेल, खटाई आदि राजसिक पदार्थ हैं। इसी प्रकार सोंठ, अदरख, कालीमिर्च और नमकका भी उपयोग बहुत कम करना चाहिये। इनका भी अधिक उपयोग मनकी राजसवृत्तिको प्रोत्साहित करता है। नमकको आटेमें डालकर रोटी बनानेसे वह बहुत रजोगुण-वर्द्धक हो जाता है।

शाकोंमें अच्छे शाक हैं टिंडे, तोरई, लौकी (कद्दू)। अरवी, गोभी, बैंगन, हरे टमाटर, शलगम आदि राजस और तामस हैं तथा प्रायः सभी पत्ती शाक मलकारक एवं वायुवर्धक होते हैं। जिस किसी सात्त्विक शाकमें लालमिर्च, खटाई आदि राजसिक पदार्थ पड़ेंगे, वह राजसिक हो जायगा। इसी प्रकार सभी गरिष्ठ-पक्वान्न उत्तेजक एवं कब्ज करनेवाले होते हैं। अतएव साधकको पूड़ी, हलवा आदि गरिष्ठ वस्तुओंसे बचना चाहिये।

सबसे अच्छा पेय तो शुद्ध शीतल जल ही है। गन्ने तथा कुछ फलोंके ताजे रस भी पिये जा सकते हैं। गर्मियोंमें बादाम, खीरेके बीज, इलायची, सौंफ, कासनी, कालीमिर्च और गुलाबके फूलोंकी ठंढाई मिश्री मिलाकर पीना ठीक है। लेकिन बर्फ, सोडा आदि समस्त नवीन पेय हानिकर एवं दोषपूर्ण हैं।

फलोंमें मौसम्मी, सन्तरे यदि खट्टे न हों, मीठे आम— ये श्रेष्ठ फल हैं। केला, नाशपाती, सेब आदि कुछ कब्ज करते हैं। ककड़ी और बेर तो अत्यन्त कब्ज करनेवाली हैं। बेल, आँवला ये दोनों उत्तम स्वास्थ्यप्रद फल हैं। दूसरे फलोंका भी विचारपूर्वक ही उपयोग करना चाहिये। वे सभी मेवे जिनमें तेल होते हैं, जैसे अखरोट, बादाम, पिस्ता, मूँगफली आदि सब राजसिक एवं उत्तेजक हैं।

मीठा चाहे गुड़ हो या शक्कर, जबतक उसे जलमें डालकर पका न लिया जाय, कच्चा मीठा कहलाते हैं और ये गरम तथा उत्तेजक हैं। जलमें डालकर पका लेनेके पश्चात् 'बूरे' के रूपमें भी इनका उपयोग बहुत कम करना ही अच्छा है। अधिक मीठेके सेवनसे रक्तदोष होता है। मीठेके योगसे बननेवाले भोजन प्रायः सब गरिष्ठ होते हैं। सेवई, खीर, मीठे चावल, हलवा आदि सभी पचनेमें भारी होते हैं और इनका उपयोग साधकको तो नहीं ही करना चाहिये। मिलकी चीनी अशुद्ध होती है, अतः उसे छोड़ देना अत्यन्त उत्तम है। इसमें अनेक हानिकर पदार्थ भी पड़े होते हैं।

दूध सर्वोत्तम गौका होता है। बकरीका दूध भी हल्का

होता है, पर भैंसका दूध भारी होता है। भेड़ तथा ऊँटनीके दूध तो सर्वथा त्याज्य हैं। बहुत गरम दूध पीना हानिकर होता है और एकदम शीतल भी नहीं पीना चाहिये। गायके दूधको छोड़कर और दूध धारोष्ण पीने योग्य नहीं होते। दूधमें अल्पमात्रामें बूरा या चीनी डालनी चाहिये, पर गुड़ नहीं डालना चाहिये।

दूधकी मलाई, रबड़ी, खोआ आदि चीजें गरिष्ठ और उत्तेजक होती हैं। घृत शुद्ध हो तो सात्त्विक और लाभप्रद है, किंतु मिश्रित घी अत्यन्त हानिकारी होता है। गायका घी तो रसायन है। दही साधकके लिये उत्तेजक होता है और छाछ यदि खट्टी न हो तो स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है।

सभी मिठाइयाँ ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे हानिकर हैं। जो दाल या शाक आदि बिना जलके केवल घीमें ही बनाये जाते हैं, वे भी गरिष्ठ हो जाते हैं। कोई भी रसदार कच्चा भोजन तीन घंटे बाद वासी होकर तमोगुणी हो जाता है। लेकिन घीमें पके पदार्थ या मिठाई आदि जबतक कठोर न हो जायँ या उनमें विकार न आ जाय, वासी नहीं माने जाते।

भोजनके अतिरिक्त हम कुछ पदार्थ और भी काममें लेते हैं। इनमें जलको शुद्ध रूपमें ही काममें लेना चाहिये। उसमें सुगन्धित पदार्थ या वर्फ डालना जलकी स्वाभाविकता और सात्त्विकताको नष्ट कर देता है। ऐसे ही, पुष्पोंका अपने शृङ्गारमें उपयोग नहीं करना चाहिये। सभी प्रकारका शृङ्गार राजस भावका वर्धक है। दातौनके लिये नीम, मौलिश्री और बबूल अच्छे हैं। प्रतिपदा, षष्ठी, नवमी, एकादशी, अमावस्या, रविवारको तथा कोई ऐसा दन्तरोग हो जिसमें दातौनसे कष्ट होता हो तो, दातौन नहीं करना चाहिये।

सभी प्रकारके मादक द्रव्य सर्वथा तामसिक होते हैं। धूम्रपानका तो सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिये। धूम्रपान करनेवालेको मन्त्र-सिद्धि नहीं होती। तम्बाकूको सुराके समान मानकर उसका सर्वथा त्याग ही उचित है।

ओषधियाँ, जहाँतक सम्भव हो देशी ही लेनी चाहिये। डाक्टरी ओषधियोंमें स्पिरिट, सुरा, मांस तथा अनेक दूषित पदार्थ होते हैं और अपने देशकी ओषधियाँ ही अपनी प्रकृतिके अनुकूल पड़ती हैं। देशी ओषधियोंमें भी वनौषधि तथा पवित्र वस्तुएँ ही ली जायँ तो अत्यन्त उत्तम है।

क्रिया-दोष

पदार्थ चाहे उपाय-दोषसे दूषित न हो, वह शुद्ध न्यायोपार्जित द्रव्यसे आया हो और उसमें स्वरूपसे भी कोई दोष न हो; परंतु यदि उसे विधिपूर्वक काममें न लिया जाय तो वह भी दोषयुक्त हो जाता है। पदार्थका यह तीसरा दोष क्रिया-दोष है। क्रिया-दोषसे दूषित पदार्थ भी मनको दूषित करता है और शरीरमें भी अनेक विकार ला सकता है, अतएव इस दोषके सम्बन्धमें भी कुछ विचार करना आवश्यक है।

रसोई-स्थान—जहाँ भोजन बनाया जाय, वह स्थान खुला न हो, जिसमें रेत आदि उड़कर पड़े या पक्षियोंद्वारा भोजनमें कोई दोष आये। उस स्थानपर पशु भी न पहुँच जाय, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये। रसोई-स्थान कच्चा ही श्रेष्ठ होता है, जिसमें वहाँ मिट्टी-गोबरका नित्य चौका लगाया जा सके। रसोई-स्थानको शनिवार और गुरुवारको गोबरसे नहीं पोतना चाहिये। इन दिनों मिट्टीसे पोतना चाहिये। सप्ताहमें दो दिन अवश्य गोबरसे उसे स्वच्छ करना चाहिये। भोजनका स्थान रसोईके स्थानसे कुछ नीचा होना चाहिये और यदि ऐसा सम्भव न हो तो एक लकीर खींचकर रसोई-स्थानकी सीमा निश्चित कर देनी चाहिये। रसोई-स्थानमें बिना पैर धोये किसीको नहीं जाना चाहिये। भोजन-स्थानपर एक बार लोगोंके भोजन करके उठते ही गोबर या मिट्टीसे पोता दे देना चाहिये। रसोई बनानेवाला शुद्धाचरणयुक्त हो, भोजन करनेवालोंसे उसका स्नेह हो, उसके वस्त्र स्वच्छ एवं पवित्र हों और वह स्नान करके शुद्ध हो। उसे कोई रोग, मानसिक दुश्चिन्ता या भोजन बनानेमें अरुचि नहीं होनी चाहिये। आचारहीन, तैल लगानेपर जो स्नान न किये हो, श्मशानसे लौटकर जिसने स्नान न किया हो, कोई चमड़ेकी चीज पहिने हो, इनका स्पर्श किया भोजन अपवित्र होता है। निम्न जातिका छुआ भोजन भी अपवित्र होता है। भोजनपर कुत्ते, किसी कदाचारी या निम्न जातिके पुरुष, या भूखेकी दृष्टि पड़नेसे भोजनमें दृष्टि-दोष हो जाता है और वह अनेक शारीरिक एवं मानसिक विकारोंका कारण हो सकता है। काक आदिसे छुआ या स्पर्श अथवा दृष्टि-दोषसे दूषित अन्न फेंककर दूसरा बनाना चाहिये। भोजनके पदार्थोंपर मक्खी न बैठे, चूहे मुँह न दे जायँ, इसका भी ध्यान रखना चाहिये।

रसोईके उपकरणोंकी शुद्धि—रसोईके वर्तन भली प्रकार मलकर स्वच्छ किये गये हों। उनमें जूठन, मैल आदि न लगा हो। रसोईमें काम आनेवाले वस्त्र स्वच्छ तथा पवित्र हों। पीपलकी लकड़ी या पत्ते, पत्थरका कोयला नहीं जलाना चाहिये। इनसे अनेक रोगोंके होनेकी सम्भावना

रहती है। चावल, दाल, शाक आदि स्वच्छ करके और भली प्रकार धोकर काममें लेने चाहिये। चावल हाथका कुटा तथा आटा हाथका पिसा उत्तम होता है। दूधको छानकर ही काममें लेना चाहिये। घी, नमक, मसाला, आटा आदि ढककर सावधानीपूर्वक रखना योग्य है।

भोजनके काममें तथा पीनेके लिये स्वच्छ, शीतल, गन्धहीन छानकर रक्खा हुआ कुएँका जल ही उत्तम है। चमड़ेके पात्रका, तैलके इंजिनसे निकाला और नलका जल शुद्ध नहीं होता। पवित्र नदियोंका स्वच्छ जल कामके योग्य होता है और गङ्गाजल सदा पवित्र रहता है। कूपजल ताजा ही कामके योग्य होता है। विधर्मी एवं अस्पृश्य जातियों तथा रजस्वला स्त्रीसे स्पर्शित जल अपवित्र होता है। जलको पवित्रतापूर्वक स्नान करके ही लाना चाहिये। उसे वस्त्रसे छानकर ढककर रखना चाहिये और रात्रिका रक्खा जल काममें नहीं लेना चाहिये। तवेपर मुखसे नहीं फूँकना चाहिये और अग्निको भी मुखसे नहीं फूँकना चाहिये। किसी पात्रको पैरोंसे नहीं छूना चाहिये। मिट्टी, काँच, पत्थर और लकड़ीके बर्तन जूठे होनेपर फिर कामके योग्य नहीं होते, अतः इनमें भोजन नहीं करना चाहिये।

भोजन—बलिवैश्वदेव करके, अग्निमें अन्नकी आहुति देकर, हन्तकार निकालकर उसे किसी योग्य सत्पुरुषको देकर, पहले अतिथि, बालक, रोगी, वृद्ध और नौकरों आदिको भोजन कराना चाहिये। हन्तकार-भाग निकालनेका अर्थ है भगवान्‌के निमित्त अन्न निकालना। प्रत्येक पदार्थमेंसे इतना अंश निकालना चाहिये जिससे एक व्यक्ति भोजन कर ले और उससे किसी उत्तम व्यक्तिको भोजन कराना चाहिये। इसीके साथ गौका तथा अन्यान्य पशु-पक्षियों तथा कीटोंका भाग भी निकालना चाहिये।

घरमें जितने सदस्य हों, उनमें बालकों, वृद्धों और रोगियोंको तथा अतिथि और अभ्यागतोंको भोजन करानेपर जो बचे, सबका भाग होता है। भोजनमें भेद करना पाप है। घरके लोगों और सेवकोंके भोजनमें कोई भेद नहीं होना चाहिये। इस प्रकारके भेदभावसे भोजन करनेवालेके अन्नमें भाव-दोष होता है और इससे अनेक रोग हो सकते हैं। रसोई नित्ययज्ञ है। रसोई करनेवाला यज्ञकर्ता है और भोजन करनेवाले सभी विष्णुरूप आमन्त्रित हैं। अतः रसोई बनाने या परसनेवालेको भेदभाव तनिक भी नहीं आने देना चाहिये। जिसे घटिया अन्न दिया जाता है, उसका कुछ नहीं बिगड़ता, पर जिसे अच्छा दिया जाता है, उसके अन्नमें भावदोष होता है। भेद करनेवाला तो पापका भागी होता ही है।

सूर्योदयसे पूर्व, मध्याह्नमें (लगभग साढ़े ग्यारहसे साढ़े बारहतक) और सूर्यास्तसे डेढ़ घड़ी पहलेसे तारे उगनेतक भोजन नहीं करना चाहिये। इस सायंकालकी गोधूलि वेलामें भोजन करनेसे उसपर प्रेतोंकी दृष्टि पड़ती है और वह दूषित हो जाता है। रात्रिमें तिल तथा तेलकी वस्तुएँ वर्जित हैं।

स्नान करके ही भोजन करना चाहिये। स्नान-सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर, पैर धोकर, नंगे सिर भोजन करना चाहिये। पहननेके वस्त्र उतारकर भोजन करना उचित है, पर केवल एक वस्त्रसे भी भोजन करना निषिद्ध है। भोजनके समय उत्तरीय (अंगोछा आदि) शरीरपर रखना चाहिये। भोजन जिस पात्रमें बना है उसमें रखकर, हाथपर रखकर, कागजपर रखकर, कुर्सी-मेजपर नहीं करना चाहिये। जूते पहने, खड़े-खड़े, चलते हुए कुछ भी नहीं खाना चाहिये। भूमिपर आसनपर स्थिरतापूर्वक बैठकर, शान्तचित्तसे, पवित्र होकर, मौन होकर भोजन करना उचित है। भोजन पूर्व या उत्तर मुख बैठकर करना चाहिये। बासी, रसहीन, दुर्गन्धित, जूठा, अपवित्र, अधपका, अधिक पका, जला हुआ, सड़ा, खुर्चा, रोष या घृणापूर्वक दिया, अपरिचित या निन्दित व्यक्तिसे दिया, अपवित्र अन्न नहीं खाना चाहिये। एक वर्णके लोगोंको ही एक पंक्तिमें बैठना चाहिये। एक साथ पंक्तिमें बैठे लोगोंको आगे-पीछे नहीं उठना चाहिये। भोजनके समय एक दूसरेका स्पर्श नहीं करना चाहिये। भोजनके पश्चात् दो घंटेसे पूर्व नहीं सोना चाहिये।

दृष्टि—भोजनपर पिता, माता, बन्धु, पुण्यात्मा जन, वैद्य, हंस, मयूर और चकवेकी दृष्टि पड़ना शुभ होता है। नीच, दरिद्र, भूखे, रोगी, लम्पट, अधर्मी, मुर्गे, सर्प, कुत्ते और किसी भी द्वेष, घृणा, क्रोधसे युक्त व्यक्तिकी दृष्टि भोजनपर पड़े तो उस अन्नको छोड़ देना चाहिये। यदि भोजन छोड़ना शक्य न हो तो इस श्लोकको पढ़ते हुए भोजन करना चाहिये—

अञ्जनीगर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम्।
दृष्टिदोषविनाशाय हनूमन्तं स्मराम्यहम्॥

पञ्चग्रास—सबसे प्रथम भोजनमें ये पाँच मन्त्र पढ़ते हुए क्रमशः पाँच ग्रास मुखमें डालने चाहिये—१. ॐ प्राणाय स्वाहा, २. ॐ अपानाय स्वाहा, ३. ॐ व्यानाय स्वाहा, ४.

ॐ उदानाय स्वाहा, ५. ॐ समानाय स्वाहा । ऐसा करनेसे भोजन यज्ञमय हो जाता है । भोजन भगवत्प्रसादबुद्धिसे यज्ञशेष मानकर करना ही सर्वोत्तम है ।

अन्नमें स्वादबुद्धि नहीं होनी चाहिये । उसे शरीरके लिये ओषधि मानकर उपचारकी भाँति जितना आवश्यक हो, लाभकर हो, उतना ही करना चाहिये । अन्नको रुचिपूर्वक आदरभावसे ही भोजन करना चाहिये । अरुचि एवं उपेक्षापूर्वक किया गया भोजन ठीक पचता नहीं । उदरके दो भागको अन्नसे, एकको जलसे पूर्ण करके एक भाग वायुके लिये खाली रहने देना चाहिये । भोजनके मध्यमें थोड़ा-थोड़ा जल पीना हितकर होता है; पर भोजनके अन्तमें तुरंत बहुत जल पीना हानिकर है । किसीके द्वारा उल्लङ्घन किया भोजन या जल भी काममें नहीं लेना चाहिये ।

भोजनके पश्चात्—भोजनके पश्चात् मुखको जलसे खूब स्वच्छ कर लेना चाहिये । फिर भीगे हाथ नेत्रोंपर फेरने चाहिये । इसके पश्चात् १०० पद घूमकर लेटना अच्छा है । तुरंत दौड़ना या कोई कठोर काम नहीं करना चाहिये ।

व्रतोपवासादि—व्रत एवं उपवासके तो हमारे शास्त्रोंमें बहुत विधान हैं और उनके लाभ भी अपार हैं; परंतु यहाँ आहारके विवेचनमें इतना ही जानना चाहिये कि एकादशीको चावलका भोजन अत्यन्त वर्जित है । ग्रहणके दोषकालमें आहार ग्रहण करना या जल पीना निषिद्ध तो है ही, हानिकारक भी है । शरीरके लिये आहार जितना आवश्यक है, व्रत भी एक सीमामें उतने ही आवश्यक हैं और निषिद्ध समयोंमें तो आहार ग्रहण करना ही नहीं चाहिये ।

उपसंहार—इस प्रकार आहारके सम्बन्धमें सभी दोषोंको बचाकर जबतक अन्नका ग्रहण नहीं किया जाता, तबतक मानसिक दोषोंसे परित्राण नहीं पाया जा सकता । हम जो भोजन करते हैं, उसीसे मन बनता है । जैसा अन्न वैसा मन । अतएव शरीरकी आरोग्यता और मनकी पवित्रताकी प्राप्ति तथा रक्षाके लिये भी आहारको ही पहले पूर्णतया शुद्ध होना चाहिये ।

भक्त-गाथा

बहिन सरस्वती

सरस्वती माता-पिताकी बड़ी ही लाड़ली लड़की थी। इसीसे उसके लालन-पालनमें माता-पिताने कुछ भी उठा नहीं रक्खा था । उसको कहीं जरा-सी भी मनोवेदना हो, यह माता-पिताको असह्य था । इकलौती सन्तान थी, सम्पन्न घर था और माता-पिताके हृदयोंमें स्नेहकी सरिता उमड़ती थी । बारह वर्षकी अवस्थामें उसका विवाह एक सम्पन्न घरके सुदर्शन नामक लड़केसे कर दिया गया । तीन साल बाद द्विरागमन हुआ । सरस्वतीके विवाह और द्विरागमनमें बहुत बड़ी धनराशि खर्च की गयी । प्रचुर दहेज दिया गया ।

सरस्वती सचमुच योगभ्रष्टा थी । नैहरके पंद्रह वर्षमें उसके शरीर और मनको चोट पहुँचानेवाली कोई भी—छोटी-सी घटना भी नहीं हुई । वह सब प्रकारसे बड़े आरामसे रही, पर उसका मन कभी भी संसारके भोगोंमें फँसा नहीं । आरामकी सामग्रियाँ प्रचुर मात्रामें थीं पर उसका मन उनसे सदा उदासीन-सा रहता था । माता-पिताको दुःख न हो, इसलिये वह प्रकटमें सब कुछ स्वीकार करती थी; परंतु उसका मन उनको स्वीकार नहीं करता था । घरमें श्रीगोपालजीका मन्दिर था । श्रुतदेव नामक बूढ़े पुजारी बड़े ही भक्तिभावसे श्रीगोपालजीकी पूजा करते थे । उनके कोई सन्तान नहीं थी । उनका गोपालजीमें वात्सल्यभाव था । वे बड़े स्नेहसें गोपालजीके भोग लगाया करते । उनके मन गोपालजी जड स्वर्णप्रतिमा नहीं थे । सच्चिदानन्दघन भगवान् थे । मनमें ही नहीं, भक्त श्रुतदेवकी शुद्ध भावनाके अनुसार भगवान् उनसे स्थूल व्यवहार भी ऐसा ही करते थे । पर इस बातका रहस्य श्रुतदेवने किसीको नहीं बताया । सरस्वतीके माता-पिता श्रीकीर्ति तथा मतिमान् भी इस रहस्यसे अपरिचित थे । सरस्वती छोटी उम्रसे ही मन्दिरमें जाकर बैठती, खेलती; पुजारीजीकी पूजा-आरती तथा भोग-रागको बड़े चावसे देखा करती । पुजारीजी छोटी बच्ची समझकर उससे कोई छिपाव नहीं करते । इसके अतिरिक्त उनका सरस्वतीके प्रति बड़ा स्नेह था, वे उसे अपनी

सगी पुत्रीसे बढ़कर मानते थे। यह पुत्री और ठाकुरजी श्रीगोपालजी प्राणप्रियतम पुत्र—इस भावसे पुजारीजीका स्नेह दोनोंमें बँट गया था। उनके इस सम्बन्धसे सरस्वती और गोपालजीमें भी भाई-बहिनका सम्बन्ध हो गया था। छोटी बालिका अपने गोपाल भैयासे बड़ा प्यार करती। बाल्यभावसे उन्हें खिलाती-पिलाती, उनके साथ खेलती, शुद्ध प्रेमालाप करती। श्रुतदेवजी बड़े प्रसन्न होते।

सरस्वतीकी बुद्धि बहुत तीव्र थी, वह पुजारीजीसे गीता-रामायण-पुराण तथा अन्य शास्त्रग्रन्थ बड़ी लगनसे पढ़ती। और समय-समयपर श्रीभगवान्‌के स्वरूप तथा लीलाके सम्बन्धमें पूछा करती। श्रुतदेवजी-को वह पितासे बढ़कर मानती और उनके उपदेशों और वचनोंको कार्यरूपमें परिणत करनेकी चेष्टा करती। इससे उसका जीवन पवित्र भक्तिमय हो गया था। नौ ही वर्षकी अवस्थामें उसे श्रीभगवान्‌के दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो गया था। उसके सरल आग्रहसे प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट हो भगवान्‌ने भोग आरोग लिया तथा कुछ ही दिनों बाद श्रावणी पूर्णिमाके दिन उसके द्वारा रक्षाबन्धन करवाया। श्रुतदेवजी इससे बड़े ही प्रसन्न हुए। इसके बाद तो श्रीगोपालजीके साथ सरस्वतीका भाई-बहिनका सम्बन्ध इतना स्पष्ट और सुदृढ़ हो गया था कि दोनों जाने कितनी बार मिले और कितनी बार परस्पर सुख-दुःखकी चर्चा हुई। फिर गोपाल भैयाकी सम्मति-से ही सरस्वतीने विवाह करना स्वीकार किया, इस शर्तपर कि गोपाल भैयाको सरस्वती बहिन जब याद करेगी, तभी वे उसके पास पहुँच जायँगे। सरस्वतीको अपने बाल्यजीवनमें पिता-माताके द्वारा जो सब प्रकार सुख-सुविधा प्राप्त हुई, इसमें गोपाल भैयाकी ही करामात थी और सरस्वतीके विवाह तथा द्विरागमन-में भी गोपाल भैयाका बड़ा हाथ था। दहेजकी सामग्री, अतिथियोंका स्वागत-सत्कार, सबकी सात्त्विक प्रसन्नता आदिकी व्यवस्था सरस्वतीके पिता मतिमान्‌को आश्चर्यमें डालनेवाली थी। कहाँसे कैसे कब क्या होता था, इसका उन्हें पता ही नहीं लग पाता था। न मालूम कहाँसे उनके इतने कार्य-कुशल मित्र आ गये थे और इतनी सुमुखी-सयानी देवियाँ घरमें आ गयी थीं श्रीकीर्तिके काममें सहयोग देने। उन्हें पता नहीं था कि यह सब सरस्वतीके भैया गोपालकी कृपाशक्तिके खेल हैं।

द्विरागमन हो गया। सरस्वती ससुराल चली गयी। गोपाल भैया गुप्तरूपसे बहिनको पहुँचाने साथ गये और दो-तीन दिन वहाँ रहकर उसे सान्त्वना देकर लौटे। सरस्वतीके पति सुदर्शन बड़े ही सात्त्विक प्रकृतिके साधु पुरुष थे। उनमें जगत्‌के छलछन्दका कहीं गन्ध-लेश भी नहीं था। पिताका घर सम्पन्न था। माता-पिता निष्ठावान् धार्मिक थे। घरमें सब प्रकारसे सुख था। सरस्वतीका जीवन बहुत आनन्दसे बीत रहा था। गोपाल भैया, बीच-बीचमें आकर बहिनसे मिल जाया करते और बातों-ही-बातोंमें उसे उपदेश दिया करते तथा अपने स्वरूपका तत्त्व समझाया करते थे।

एक दिन सरस्वतीने श्रीगोपालजीसे कहा—"भैया! मैं छोटी थी, तब तो कुछ समझती नहीं थी। तुम्हारी छोटी-सी मूर्ति मुझे बड़ी प्यारी लगती। पुजारीजी पूजा करते तब मुझे ऐसा लगता, तुम मानो हँस रहे हो; वे भोग लगाते तब मुझे लगता, तुम खा रहे हो। मेरी बालसुलभ श्रद्धा थी। फिर एक दिन जब मैं पुजारीजीसे अड़ गयी कि आज तो मैं ही भोग लगाऊँगी। उन्होंने बहुत समझाया, पर मैंने अपना हठ नहीं छोड़ा; उस समय मुझको लगा—तुम मानो पुजारीजीसे कह रहे हो कि 'सरस्वती भोग लगाना चाहती है तो तुम क्यों रोकते हो। मुझे इसके हाथका भोग ग्रहण करनेमें बड़ी प्रसन्नता है।' पता नहीं, उन्होंने तुम्हारी बात सुनी या नहीं, परंतु तुरंत ही मुझसे कह दिया कि 'तुम भोग लगाओ' और पता नहीं इतना कहकर वे क्यों बाहर चले गये। मैंने भोग रक्खा। पर्दा लगाया। पर तुमने खाया नहीं। भैया! मुझे उस दिनकी बात अच्छी तरह याद है, जब मैं रोने लगी तो तुम उसी

मूर्तिमेंसे प्रकट हो गये और मेरा रक्खा हुआ प्रसाद प्रसन्नतासे पाने लगे। मुझे उस दिन बड़ी ही प्रसन्नता हुई। इसके छः ही महीने बाद मेरे आग्रह करनेपर तुमने राखी बँधवायी मुझसे। इसके बाद तो तुम मुझसे बातचीत करने लगे। मैं जानती नहीं थी कि तुम कौन हो। इतना ही जानती थी कि मेरे भैया लगते हो। यही पुजारीजीने मुझको बताया था। माने कई बार मुझसे पूछा, पिताजीने भी कभी-कभी बात चलायी, पर तुमने मने कर दिया था, इससे मैंने किसीसे कुछ भी नहीं कहा। तुम्हारे कहनेसे मैं यहाँ चली आयी। पर अब मेरे मनमें यह जाननेकी आ रही है कि वास्तवमें तुम कौन हो? माताजी, पिताजी तुम्हें भगवान् कहते हैं। पुजारीजी भी भगवान् ही मानते हैं। पर तुम मेरे माता-पिताके सामने मूर्ति ही बने रहते हो। भैया! बताओ; क्या सचमुच तुम भगवान् ही हो? भगवान् ही हो तो मेरे भाई कैसे? क्या मैं तुमको भाई न मानूँ। ऐसा तो सोचते ही मेरा मन जाने कैसा घबड़ा जाता है। भैया! अपना भेद मुझे बताओ। आज मैं बिना जाने नहीं रहूँगी।''

सरस्वती बहिनकी बात सुनकर गोपाल भैया हँसे। बोले—'सरस्वती बहिन! सचमुच मैं तुम्हारा भैया हूँ। यों तो मैं सारे ही संसारका बन्धु हूँ पर तुम्हारा तो भाई ही हूँ। तुम्हारा मेरे प्रति जो निश्छल प्रेम है, उससे तुमने मुझको सदाके लिये अपना भैया बना लिया है। बहिन! प्रेम आत्माका स्वरूपभूत गुण है—धर्म है। जैसे दूधकी सफेदी और अग्निकी दाहिका-शक्तिका उनसे अभिन्न सम्बन्ध है, वैसा ही आत्माका अभिन्न सम्बन्ध प्रेमसे है। परंतु बद्ध जीवका चित्त अशुद्ध होनेसे उसके प्रेमका विषय दूसरा होता है। वह अपने स्वरूप आत्मामें प्रेम न करके तुच्छ और अनित्य भोग-पदार्थोंमें—स्त्री, पति, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदिमें प्रेम करता है और इन नश्वर पदार्थोंसे प्रेम करनेके कारण ही बार-बार प्रवञ्चित होता है। उसे इस प्रेमके परिणाममें निराशा, असफलता, वियोग, मृत्यु, नाश और रोना-कराहना ही मिलता है। पर जब मेरी कृपासे जीवका चित्त शुद्ध होनेपर अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि जाती है तब उसमें विशुद्ध प्रेमकी स्फूर्ति होती है तब वह आत्माकी ओर मुड़ता है। आत्मामें प्रेम स्थापन करता है, आत्माराम हो जाता है। तदनन्तर ही प्रेम-साधनाके बलसे वह जान पाता है कि मैं (भगवान्) ही समस्त आत्माओंका आत्मा हूँ। मैं ही सबका एकमात्र स्वरूपाश्रय हूँ, तब वह समझता है कि बस, एकमात्र भगवान् ही मेरे प्रेमास्पद हैं। ऐसी अवस्थामें उसका चित्त मेरे ही दिव्य गुणोंकी ओर आकर्षित हो जाता है, मेरे ही दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यपर मुग्ध होता है और फिर वह समस्त जगत्में और जगत्से बाहर केवल मुझको ही देखता हुआ मुझमें ही अपने प्रेमको मिला देता है। तब, मैं क्या हूँ, कैसा हूँ इस तत्त्वका उसे मेरी कृपासे यथार्थ पता लग जाता है।

'सरस्वती बहिन! तुम मुझे ठीक जानती नहीं कि मैं कौन हूँ, परंतु मुझसे प्रेम करती हो। मेरी तुलनामें तुम्हारे मनमें न घर-द्वार हैं, न माता-पिता हैं, न धन-ऐश्वर्य हैं, न मान-सम्मान हैं और न स्वर्ग-मोक्ष ही हैं। तुम्हारा मुझमें इतना अपार अनुराग है। सो यह उचित ही है। इस बातको चाहे कोई जाने या न जाने, सबका प्रेम आत्मामें होता है और मैं तो आत्माका भी आत्मा हूँ। इसके सिवा जो मुझे एक बार देख लेता है, वह अनन्य प्रेम किये बिना रह ही नहीं सकता। मैं हूँ ही ऐसी वस्तु! आत्माराम मुनि भी मेरे गुणोंपर मुग्ध होकर मेरे प्रति अहैतुकी भक्ति करते हैं। यह प्रेम कोई वृत्ति नहीं है, यह मेरी स्वरूप-शक्ति है। प्रेमवृत्ति तो इसीका एक साधारण क्षुद्र प्रकाशमात्र है। भाईके पवित्र भावसे तुममें मेरे प्रति यह जो अप्रतिम प्रेम है; यह मेरे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान तुमको अपने-आप ही करा देगा।

'वस्तुतः मेरे स्वरूपका पता कोई भी पुरुषार्थके द्वारा

नहीं प्राप्त कर सकता। मेरा स्वरूप मन-बुद्धि-वाणीके अगोचर है। मैं ही नित्य सत्य हूँ, सनातन हूँ, पूर्ण हूँ और परात्पर हूँ। जो कुछ भी दृश्यवर्ग है, सब न तो मुझसे भिन्नरूपसे सत् है और न यह शशशृङ्ग या इन्द्रजालकी भाँति सर्वथा असत् ही है। यह जो कुछ है, सब मैं ही हूँ। पर जिस रूपमें यह दीखता है, उस रूपमें नहीं। इस दृश्यमें परिवर्तन होता है; परंतु प्रत्येक दृश्यकी आड़में मैं नित्य सत्यरूपसे विराजित हूँ। यह परिवर्तन तो मेरा लीला-विलास है। प्रलयमें जगत् मुझमें ही लीन होता है और सृष्टिके आरम्भमें फिर मुझसे ही उद्भूत हो जाता है। अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड सब मुझमें है, मैं अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डोंमें हूँ। और मैं ही उनसे अतीत अचिन्त्यरूप हूँ। जो कुछ भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष है, जो कुछ जगत् या जगदातीत है, जो कुछ भी 'है' या 'नहीं' है, सब मैं ही हूँ। मैं सदा अप्रकट हूँ और नित्य प्रकट हूँ। परमाणु-परमाणुमें मेरा ही नित्य आनन्द-नृत्य चल रहा है। सुन्दर सृजन और भयानक संहार सब मेरे ही लीलास्वरूप हैं। इतना सब होते हुए भी मैं तुम्हारा अपना और परम प्यारा गोपाल भैया हूँ! तुम मुझे नित्य भैया मानो और मैं तुम्हें नित्य बहिन मानूँगा।

'देखो, तुम्हारा यह पति मेरा पुराना भक्त है। यह पहले अवन्तिकापुरीमें ब्राह्मण था। वहाँ भी तुम इसकी धर्मपत्नी थी और मेरी परम भक्त थी। मेरे किसी लीला-सङ्केतसे तुम दोनोंको फिर यहाँ जन्म लेना पड़ा। अब तुम दोनों मेरी भक्ति करते हुए सफल जीवन होओगे और मेरे दुर्लभ परम धामको प्राप्त करोगे।

'तुम निश्चय समझो कि एक बार जो मेरा हो जाता है, वह सदा मेरा ही रहता है। तुम्हारे सदृश महान् भाग्यशाली भक्तोंको, जो मेरे लिये सारे भोगोंकी आसक्ति भूलकर, सब कुछ त्यागकर मेरे ही हो गये हैं, मैं कभी नहीं छोड़ता—

विस्मृत्य सकलान् भोगान् मदर्थे त्यक्तजीवितान्।
मदात्मकान् महाभागान् कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

इतना कहकर गोपाल भैयाने सरस्वतीके सिरपर हाथ रक्खा। हाथ रखते ही उसकी बुद्धिमें भगवान्‌का तत्त्व-स्वरूप प्रकट हो गया। कुछ ही क्षणोंमें बुद्धि भी असमर्थ हो चली। अब आगेकी बात कौन बताये। भगवान्‌के साथ सरस्वतीकी किस प्रकार कैसी एकात्मता हुई, इसका किसीको पता नहीं है; परंतु वह समाधिस्थ-सी हो गयी। श्रीभगवान्‌का वरदहस्त उसके मस्तकपर है और वह जड पुत्तलिकाकी भाँति निस्तब्ध—स्थिर है। वह इस समय कहाँ थी, क्या अनुभव करती थी, अनुभव करनेवाली कोई सत्ता भी थी या नहीं, कुछ पता नहीं। पर जब कुछ देरके बाद वह जगी, तब देखा गया उसमें अपूर्व विलक्षणता थी। उसकी मुखाकृति ही बदल गयी थी। उससे मानो स्निग्ध शीतल तेजोराशि तथा निर्मल शान्तिकी धारा प्रवाहित हो रही थी। भगवान् उसकी ओर देखकर मुसकरा दिये और वह भी हँसने लगी। तदनन्तर भगवान् अन्तर्धान हो गये। सरस्वती भगवान्‌से प्रत्यक्ष दर्शन और उपदेश प्राप्त करके कृतार्थ हुई।

इधर भगवान्‌ने कृपापूर्वक सरस्वतीके पति सुदर्शन-को भी कुछ ऐसी विचित्र प्रेरणा की कि उसे अपने पूर्व-जन्मकी बात याद आ गयी, और वह सबका मोह छोड़कर केवल भगवदाराधनमें लग गया। अब तो श्रीगोपालजी उसके सामने भी प्रकट हो गये। दोनों पति-पत्नी एक ही साध्य, एक ही साधन और एक ही मार्गका अवलम्बन करके भगवान्‌के परम प्रेमी बन गये। अब उनके पास जो कुछ भी था; सब भगवान्‌की पूजाका उपकरण बन गया और वे जो कुछ भी करते, सब भगवत्परायण होकर भगवान्‌की पूजाके लिये ही करते। उनका अलग कोई काम रह ही नहीं गया। इस प्रकार भगवद्भक्तिसे ओतप्रोत भगवन्मय जीवन बिताकर वे भगवान्‌के परम धामको प्राप्त हुए। बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

ज्ञाननेत्र

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
(गीता १५ । १०)

'अङ्गुष्ठ-परिमाण दीप-कलिकाके समान ज्योतिर्मय सूक्ष्म शरीर जब इस स्थूल देहको छोड़ देता है, लोग कहते हैं—मनुष्य मृत हो गया।' कानोंकी विशाल हस्तिदन्त मुद्राएँ भस्मभूषित कपोलोंका स्पर्श करके बार-बार हिल रही थीं। व्याघ्रचर्मपर जैसे तेजोराशि भगवान् कैलाशपति स्वयं इस एकान्त शान्त वनकी शोभापर मुग्ध होकर आ विराजे हों।

'अपने शरीरमें ही जिसने उसका साक्षात् करके ज्योति-केन्द्रमें प्रवेश कर लिया है, वही अमर पुरुष हो गया है। आनन्द अखण्डरूपसे उसका स्वरूप बन गया।'

'धारणा तबतक स्पष्ट नहीं होती, जबतक ध्येयका साक्षात् कम-से-कम एक बार न कर लिया जाय!' भर्तृहरिने गुरुदेवके अरुण चरणोंमें मस्तक झुकाया।

'हरि! तुम्हारी भावना पवित्र है!' बाबा गोरखनाथ स्नेहवश उन्हें इसी अल्प नामसे सम्बोधन करते हैं। 'पर तुम्हारे गुरुभाईकी योगमें आस्था ही नहीं। पुत्रकी मृत्युसे कृत्रिम वैराग्यवश यह आग्रहपर उतरा और मैंने भी पहली बार मूढ़ दुराग्रहसे विवश होकर दीक्षा दी। शक्तिपातके क्षणमें जो जागरणकी अन्तःक्रिया हुई, साधनाने उसे ऊर्ध्वोत्थित नहीं किया। भ्रूमध्यके द्विदलके भेदनसे पूर्व जीवको साक्षात्कार कैसे हो सकता है।'

'आपकी कृपासे तो असम्भव भी सम्भव होता है।' भैरवनाथने अत्यन्त नम्रतासे प्रार्थना की। गुरुदेवने योगकी जो गम्भीर बातें सुनायी थीं, वे उनकी समझमें तो आयीं नहीं। योगके अटपटे आसनों और जिह्वानालके छेदनमें उनकी रुचि भी नहीं। वे तो गुरुके ऊपर भरोसा करके बैठ गये हैं। उनके समर्थ गुरु सब कर सकते हैं। उनके कल्याणकी चिन्ता उनकी अपेक्षा गुरुदेवको अधिक है।

'प्रत्येक क्रिया अधिकारकी अपेक्षा करती है।' पता नहीं क्यों आज बाबा गोरखनाथ कुछ अधिक प्रसन्न नहीं जान पड़ते थे।

'जैसी आपकी इच्छा!' यदि भैरवनाथसे भर्तृहरिने प्रातः जीव तथा उसके स्वरूपके सम्बन्धमें वह लंबा उपदेश न बताया होता तो वे कहाँ स्वयं पूछने चले थे। उन्हें इस झोपड़ीकी परिचर्यासे अवकाश कहाँ। आज छः महीनेकी आश्रम-सेवाके पश्चात् तो गुरुदेव पधारे थे उस सेवाको सार्थक करने।

'तुम दोनों मेरे साथ आओ।' बाबाने झट चिमटा उठा लिया। खड़ाऊँ पैरोंमें आयी। वे तो जैसे दौड़ते हुए चलते हों। जब इस प्रकार वे किसी कार्यमें प्रवृत्त हों, कोई बीचमें कुछ बोलनेका साहस नहीं कर सकता। कोई कुछ पूछे तो एक मीठी फटकार मिलेगी—'थोड़ी देर प्रतीक्षाकी स्थिरता होनी चाहिये सत्यके साधकमें।'

'यहाँ बैठो और शीघ्रता करो मनको संयमित करनेके लिये।' झाड़ियोंको हटाते, ऊँचे-नीचे पत्थरोंपर पैर रखते वे एक छोटे नालेके समीप जा खड़े हुए। एक जंगली मनुष्य भूमिपर मूर्छित पड़ा था। मुखसे फेन निकल आया था। नेत्र ऊपर चढ़ चुके थे। शरीर विवर्ण हो गया था। 'दो क्षण पक्षी इस

पिंजड़ेमें और है ।' एकटक वे उसीकी ओर देख रहे थे ।

'गुरुदेव !' भैरवनाथके स्वरमें करुणा आयी । 'बेचारा मनुष्य—पता नहीं कौन-कौन घरमें उसकी प्रतीक्षा करते होंगे, कितने लोग दुखी होंगे उसके न रहनेसे । केवल एक चिटकी भस्म यदि गुरुदेव उसपर डाल दें, यदि भर्तृहरिको ओषधि देनेका ही आदेश दे दें ।'

'तुम चाहते हो कि वह इस चिथड़ेमें जीवनको लथेड़नेके लिये फिर उठे और बार-बार इसी प्रकार शिलाजीतके अन्वेषणमें पर्वतसे लुढ़कता रहे ।' भैरवनाथने उसके कमरके चारों ओर लिपटा मैला जीर्ण-शीर्ण चिथड़ा देखा । यही उसका वस्त्र था । उसका यह कंकाल शरीर भी चिथड़ा ही है, यह वे नहीं समझ सके । 'वह जा रहा है ! आसन लगाओ !'

'यह तो अब कहीं जा नहीं सकता ।' आज्ञा-पालनके लिये आसन लगा लिया भैरवनाथने, पर वे क्या ध्यान कर सकेंगे । 'आप जब सम्मुख खड़े हों तो नेत्र कौन बंद करे ।' जिस विग्रहका उन्हें ध्यान अच्छा लगता है, वह तो प्रत्यक्ष है । भर्तृहरि पहले ही आसन सम्हाल चुके थे । उनके अर्धमुकुलित नेत्र मूर्छित व्यक्तिके मुखपर स्थिर थे ।

'वह चला गया । नेत्रके मार्गसे निकलनेवाला अधोगति तो नहीं पायेगा, पर गया लौटनेके लिये ही ।' भर्तृहरिने तनिक देरमें ही धीरे-धीरे आसन छोड़ा और उठ खड़े हुए ।

'हाँ, यह मर तो गया ।' भैरवनाथने शवका स्पर्श करके निश्चय किया । 'गुरुदेव इसे पुनः ज़ीवन देनेके पक्षमें नहीं ।' उन्होंने सोचा कि ध्यानस्थ होनेसे भर्तृहरिने गुरुकी बात सुनी नहीं । इसीसे वे इसे फिर लौटानेकी बात कहते हैं ।

'यहाँसे अधिक सुखमें गया है यह ।' भर्तृहरिने धीरेसे गुरुका समर्थन किया ।

'हाँ, प्राण निकल गया ।' जब शरीर मृत हो गया तो उसमेंसे कुछ-न-कुछ तो निकल ही गया, पर क्या निकल गया ? भैरवनाथ कैसे बतायें उसे । गुरुदेव आश्रमकी ओर चल पड़े । अच्छा ही हुआ—इतने दिनोंपर पधारनेके पश्चात् इतनी शीघ्रतासे जब उन्होंने आश्रम छोड़कर यात्रा की थी तो बहुत अखरा भैरवनाथको । उन्हें अभी सेवाका सौभाग्य मिलेगा । इस 'क्या निकल गया ?' से सेवामें अधिक रुचि है उनकी ।

× × ×

[२]

'प्राण—जो नित्य अजपा जाप स्वतः श्वाससे चल रहा है, उसका जपनेवाला ही प्राण है ।' भैरवनाथ गुरुदेवके विश्रामके पश्चात् भर्तृहरिके समीप आ बैठे थे । भर्तृहरिने उन्हें प्राणका तत्त्व समझाया । 'प्राणका जो प्रेरक है, वही जीव है ।'

'प्राणायामके समय श्वास नहीं चलता, पर जीवन फिर भी रहता है ।' परमयोगीका शिष्य प्राणायामसे अपरिचित कैसे रहता । भैरवनाथ प्राणायाम करते हैं—खूब देरतक कुम्भक कर लेते हैं । सचमुच यदि श्वाससे भिन्न जीव न हो तो कुम्भकके परिपाकमें तो श्वास रहता नहीं ।

'उस ज्योतिर्मय चेतनका निवास हृदय-गुहामें है ।' भर्तृहरिने बातको और स्पष्ट किया । 'ध्यानके द्वारा हृदय-कमलके विकसित होनेपर उसका दर्शन होता है । योगकी सिद्धि उसीके साक्षात्कारसे पूर्ण होती है ।'

'आप विश्राम करें ।' भैरवनाथने उदासीनतासे कहा । अब उसे एकान्तकी आवश्यकता थी । अपने आसनपर जाकर ही वह पूरी बातें सोचेगा ।

'हृदय-कमलपर तो श्रीगुरुदेव विराजमान हैं ।' गुरु-आज्ञा मानकर उसने निरन्तर अजपा जपका अभ्यास किया । प्राणायाम यदि आदेशके कारण न करना पड़ता तो उसकी अपेक्षा दंड-बैठक उसे अधिक प्रिय है । वह जातिसे अहीर जो ठहरा । उसे न आकाशमें उड़नेकी इच्छा है और न हाथ-पैर लंबे या छोटेकरनेकी । प्रेतसिद्धिके चमत्कार वह घरपर देख चुका है । ऐसे चमत्कारोंमें भी उसका आकर्षण नहीं । भरपेट दूध पीना, भैंसोंको चराना, गोबर फेंकना, घरके दूसरे काम करना और प्रातः-सायं दंड-बैठकके पश्चात् पिताकी सेवा करना बचपनसे उसने सीखा । पिता रहे नहीं, इकलौता पुत्र यमराजने उठा लिया । वह गुरुदेवकी शरणमें आया । यहाँ अब गुरुदेवकी, संतोंकी सेवा, आश्रमके कार्य और व्यायामके बदले प्राणायामका अभ्यास हो गया । योग किसलिये सीखे वह ।

'आत्मज्ञानके विना उद्धार नहीं होता !' यह उससे बार-बार कहा गया है । आत्मा और जीवमें उसे कोई अन्तर नहीं जान पड़ता, पर जीव है क्या ? प्रातःसे आज वह इसी उलझनमें है । जब गुरुदेवने दीक्षा दी, पता नहीं क्या हुआ । उसका शरीर उस समय झनझना उठा था । कई दिनोंसे रीढ़में कुछ चींटियाँ-सी चलती हैं । आज वह ध्यान करनेका प्रयत्न कर रहा था । 'हृदयकमल तो खिला ही है !' ऐसे श्रद्धालुओंको कमलोत्थान और जागरणकी अपेक्षा नहीं होती । भाव ही उनके हृदयको नित्य उद्बुद्ध रखता है । उसने हृदयमें तेजोमयी गुरुमूर्तिके दर्शन किये ।

'मेरा जी सदा गुरुके चरणोंमें लगा रहता है !' वह सोचने लगा । 'अवश्य इन चरणोंमें ही कहीं मेरी आत्मा लगी होगी !'

'ज्योतिर्मय अङ्गुष्ठपरिमाण आत्मा !' वह हृदयमें प्रकट उन चरणोंको ध्यानसे देख रहा था । चरण ज्योतिर्मय हैं । उनका अङ्गुष्ठ—पर वहाँ और कोई दूसरी अङ्गुष्ठ-जितनी बड़ी वस्तु तो नहीं है ! एक-एक पाद-तलकी रेखाएँ स्पष्ट हो गयीं । वह भूल ही गया कि उसे आत्माको ढूँढ़ना है । ध्यान करता रहा चरणोंका ।

'हरि ! तुम्हें अपने गुरुबन्धुके लिये चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं ।' ब्राह्ममुहूर्तमें भर्तृहरिने गुरुदेवके चरणोंमें अभिवादन किया था । सचमुच आज रात्रिमें उनके मनमें अनेक बार भैरवनाथकी बात आयी । कितना सरल, सेवापरायण, बालचित्त है वह । उसका हृदय आवरणहीन क्यों नहीं होता ?

'आज वह अबतक उठा नहीं है !' ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि भैरवनाथ इतनी देरतक आसनपर रहे । वह तो नित्य इस समयतक आश्रम स्वच्छ करनेमें लग जाया करता था ।

'तुम्हारा उपदेश सार्थक हुआ !' गुरुदेवके मुखपर रहस्यमय स्मित आया ।

'आपके श्रीचरणोंकी सेवा सार्थक तो होगी ही; किंतु भैरवके सम्बन्धमें प्रभुको विशेष द्रवित होना है !' गुरुकी प्रसन्नताने प्रार्थनाको अवकाश दिया ।

'वह अज्ञानी नहीं है !' भर्तृहरि चौंके । उनके सर्वज्ञ गुरु कभी अनर्गल बात नहीं कहेंगे । 'अज्ञान अश्रद्धासे होता है । उसकी मुझमें श्रद्धा है !'

'वह आत्माकी सत्ता भी समझ नहीं पाता !' भर्तृहरिने शंका की ।

'घोर अज्ञानी ही सत्तामें सन्देह करते हैं ! शरीर ही सब कुछ नहीं है, जो इतना समझकर कहीं श्रद्धा करेगा, वह उस सत्ताका साक्षात्कार अवश्य पा लेगा ।' योगीन्द्र बाबा गोरखनाथ आज भावका महत्त्व समझा रहे थे । 'श्रद्धा अज्ञानके आवरणमें बँधी नहीं रह सकती । जब वह उन्मुक्त होती है, दूसरे आवरण स्वतः नष्ट हो जाते हैं !'

'भैरव.. !'

'उसे देखोगे ?' बात पूरी होनेसे पूर्व ही गुरुदेवने भर्तृहरिको साथ लिया और आसनसे उठे ।

'ज्योति—निर्मल, घनानन्द ज्योतिमात्र !' भैरवनाथने नेत्र बंद कर रक्खे थे। सम्भवतः वे रात्रिभर बैठे ही रहे हैं। सहसा मस्तकपर स्पर्श हुआ और नेत्र खुले। अन्तरकी ज्योति जैसे बाहर घनीभूत खड़ी हो।

'इन नखोंकी ज्योति ही सबमें—सब हृदयोंमें और पदार्थोंमें भी फैली है ! व्यर्थ ही आपने आत्मा, जीव आदि नाम रखकर मुझे उलझा दिया।' गुरुचरणोंसे उठकर भर्तृहरिको उलाहना दिया उन्होंने। ठीक उसी प्रकार जैसे छोटा भाई बड़े भाईको देता है।

'यदि तू उसे उपभोक्ता न बना दे, सिद्ध हो गया।' गुरुदेवने आशीर्वाद दिया या नहीं, कौन जाने।

× × × ×

[३]

'बाबा भैरवनाथ शक्तिपात करते हैं! दीक्षा ली और आत्मज्योतिके दर्शन हुए ! ऐसे समर्थ गुरुकी कृपा बड़े सौभाग्यसे प्राप्त होती है !' लोगोंमें किसी बातको बढ़ा-चढ़ाकर कहनेका सहज स्वभाव है। बाबा भैरवनाथकी व्यापक ख्यातिमें इस स्वभावका भी हाथ तो है ही।

'क्या रक्खा है इन साधनोंमें ! गुरुकी शरण लो ! तत्काल चमत्कार देखोगे। मोक्ष तो वे भस्मकी चिटकीके साथ प्रसादमें बाँटते हैं।' ये शिष्यवर्ग यदि अपने गुरुदेवका गुण-गान करते हैं तो अपराध कौन-सा करते हैं। 'जाको खाइय, वाको गाइय।' अन्ततः गुरुदेवके मठमें माल घुटनेके साधन भी तो एकत्र होने चाहिये।

'वे महामूर्ख हैं जो कहते हैं कि आत्मा नहीं होता !' बाबाजी स्वयं प्रत्यक्ष जो वस्तु दिखला सकते हैं, उसमें भी कोई अश्रद्धा करे तो उससे बड़ा मूर्ख होगा कौन। जिसे विश्वास न हो, वह दीक्षा लेकर देख ले। यहाँ तो खुला दरबार है।

कोई भी बात फैलती है तो उसके मूलमें कुछ तथ्य होता ही है। बाबा भैरवनाथ दीक्षा देते समय शिष्यकी दोनों भौंहोंके मध्यका भाग अपने दाहिने हाथकी मध्यमा अङ्गुलीसे स्पर्श कर देते हैं। दीक्षा लेनेवाला नेत्र बंद किये होता है। जैसे एक प्रदीप भ्रूमध्यमें प्रकाशित हो गया हो। अब वह प्रकाश किसीको सदा न दिखायी दे तो गुरुदेव क्या करें। उसमें श्रद्धा, विश्वास, गुरुसेवाका अभाव होगा तो प्रकाश स्थायी कैसे रहेगा।

लोक तो 'चमत्कारको नमस्कार' करता है। आश्रमकी झोपड़ियाँ विदा हो गयीं। उनका स्थान विशाल भवनने लिया। शिष्योंकी पूजाके लिये मन्दिर बना। त्रिशूल स्थापित हुआ। बाबा गोरखनाथकी चरण-पादुका पूजित होने लगी ! योग्य शिष्य ही तो गुरुका गौरव उज्ज्वल करता है।

किसी-किसीको दूसरोंकी उन्नति असह्य हुआ करती है। बाबा भैरवनाथ तो सरलताकी मूर्ति हैं, वे तो कुछ बोलते नहीं, पर उनके शिष्योंसे कैसे सहा जाय। यह भर्तृहरि बाबाके बड़े गुरुभाई हुए तो क्या, उन्हें इसका बड़ा घमण्ड है कि वे पहले राजा थे। भला साधुमें बड़ा-छोटा क्या; पर उनसे तो बाबाकी यह कीर्ति और ऐश्वर्य देखा नहीं जाता।

'भैरव, गुरुदेवने तुम्हें सिद्ध होनेका आशीर्वाद दिया !' आज सबके सामने ही भर्तृहरिने बाबा भैरवनाथसे कहा था। 'तुमने आत्मसिद्धिके बदले लोकसिद्धि ले ली ! यह भवन, ये पदार्थ, इनका संग्रह किसके लिये है ? तुम कभी सोचते भी हो ?'

'जैसे सोचनेका ठेका इन्हींने लिया है। तीन महीना भी नहीं बीतता और आ धमकते हैं। यह स्थान न हो तो मालपुए कहाँ मिलें !' शिष्योंको बात बहुत कड़ी लगी थी। भैरवनाथजीने कुछ कहा तो नहीं, पर उनके नेत्रोंने बहुत कुछ कह दिया।

'पदार्थोंका भोक्ता बनकर ही जीव शरीरमें आसक्त हुआ। पदार्थोंसे तृप्तिकी भावना ही ठगती है उसे। पदार्थका उपयोग तो उसे प्राप्त नहीं होता। साधुके

एकाग्र हृदयमें क्या कम आनन्द या तृप्ति है जो संग्रह करे और असन्तोष मोल ले !' भर्तृहरिको गुरुभाईसे सहज स्नेह है। वे मठसे विदा होनेसे पूर्व एक बार फिर सावधान करना चाहते हैं। 'पदार्थोंका उपयोग शरीरके लिये है, पर शरीर उनका कोई सुख-दुःख नहीं पाता। मृत शरीरके लिये सभी भोग समान हैं!'

'आप मुझे शाप देना चाहते हैं!' व्यक्तिके सहन-की सीमा होती है। भैरवनाथ अपने शिष्यों और सेवकोंके सम्मुख कहाँतक अपमान सहें। 'भर्तृहरि यह मृत्युकी क्या बात कहने लगे। वे इतने बढ़ गये कि मरनेका शाप दें!' स्वर कठोर हुआ।

'तुम स्वयंको अभिशप्त कर रहे हो।' भर्तृहरिने रोषका कोई लक्षण नहीं प्रकट किया।

'आप यहाँसे पधारें।' शिष्योंमें एकने लगभग चिल्लाकर कहा। वह साधुकी अपेक्षा मल्ल (पहलवान) अधिक प्रतीत होता है। पूरी उत्तेजनामें है और उसके समीप ही कुछ और वैसे ही युवक साधुवेषमें रुष्ट-से खड़े हैं। 'आप तो राजसदनको ठुकराकर साधु हुए हैं; फिर इस भवनमें क्यों रहें। वनसे आपका यहाँ आना ही आश्चर्यजनक है।' व्यंग भरपूर तीक्ष्ण हो गया था।

'तुम जो देख रहे हो, यह तुम्हारा स्नेह नहीं; इस ऐश्वर्यका अनुराग है।' जैसे वहाँ कोई दूसरा है ही नहीं। भर्तृहरिने किसीकी ओर देखातक नहीं। 'अब भी कुशल है, उत्तराधिकारियोंमें छीननेकी भावना हो, इससे पूर्व ही उन्हें यह सब दे दो और मेरे साथ आओ।'

'जैसे गुरु गोरखनाथ यही हैं।' शिष्यवर्ग उत्तेजित होता रहा।

'मैं विचार करूँगा।' भैरवनाथ किसी प्रकार पिण्ड छुड़ाना चाहते थे।

'विचार करो, पर विचारको कुण्ठित मत करो।' भर्तृहरिने मस्तक झुकाया। उन्होंने नहीं देखा कि किस प्रकारकी विचित्र भङ्गिमासे लोगोंने अपने मुख विकृत कर लिये हैं। वे द्वारसे बाहर जा रहे थे—दूर, वनकी ओर।

× × ×

[४]

'गुरुदेव, आपने कहा था कि भैरव मूर्ख नहीं रहेगा।' भर्तृहरिने अन्ततः गुरुदेवके दर्शन प्राप्त किये। उनके सर्वज्ञ गुरु व्याकुल स्मरणकी उपेक्षा कहाँ कर पाते हैं। 'जो भोगोंको ही लक्ष्य मान ले, वह मूर्ख ही तो है।'

'यह भी संस्कार है।' जैसे बाबा गोरखनाथका भैरवनाथसे कोई सम्बन्ध हो ही नहीं। 'इस समय रजोगुण उसमें प्रबल हो गया है।'

'लोग कहते हैं कि आप चमत्कारोंके महापुरुष हैं।' भर्तृहरिने प्रार्थना की गुरुबन्धुके लिये 'संस्कारोंसे आपकी कृपाके चमत्कार कहीं शक्तिशाली हैं प्रभु।'

'जबतक हृदय शुभ कर्मोंमें लग न जाय, शान्ति-का मार्ग खुलता नहीं।' बाबाने उसी तटस्थतासे बताया। 'अभी तो वह रजोगुणसे तमोगुणकी ओर जा रहा है। रोष, विवाद और आलस्य—यही उसके उपास्य हो गये हैं।'

'प्रभुने दीक्षा दी है और उसने श्रीचरणोंकी सेवा कम नहीं की है।' स्वर जैसे दया एवं दीनता-के भारसे मन्द हो रहा हो।

'अग्निकी चिनगारी महाज्वाला तो बनेगी ही। ईंधनका भार उसे दबा सकता है, बुझा नहीं सकता।' वाणीमें आश्वासन था। 'केवल संवत्सरका एक चक्कर अभी और पूरा होगा।' उन त्रिकालदर्शीने अवधि निर्धारित कर दी।

'बाबा भैरवनाथ महाराज बड़े भारी महात्मा हैं। उनकी धूनीपर चिलम कभी ठंढी नहीं होती।' भर्तृहरिजीको गुरुभाईके समाचार मिल जाया करते हैं जंगलियोंसे। इन समाचारोंने उन्हें कुछ उद्विग्न कर

दिया । गुरुदेवने प्रार्थना सुन ली । एक वर्ष कोई बड़ी अवधि नहीं है ।

'मठपर डाका पड़ा था । डाकुओंने सब लूट लिया । आजकल इतना अधर्म हो गया कि लोग साधु-संतोंके स्थानको भी छोड़ते नहीं ।' उस दिन वह जंगली लकड़िहारा बड़े दुःखसे सुना गया ।

'महाराजसे भला कोई बात छिपी रह सकती है । डाकुओंको उन्होंने अपने शिष्योंसे ही पकड़ मँगवाया। मठमें इतनी मार पड़ी कि कईने रक्त उगल दिया । सब सामग्री मिल गयी । अब राज्य जो दण्ड देगा वह ऊपरसे । ऐसे दुष्टोंको तो कुत्तोंसे नोचवा देना चाहिये ।' उस वन्यपुरुषमें साधुओंके प्रति बड़ी श्रद्धा है । उसकी श्रद्धाने डाकुओंके कष्टका विचार करने ही नहीं दिया ।

'किसीने बाबा भैरवनाथको भोजनमें विष दे दिया। चिकित्सा चल रही है ।' इस समाचारसे इच्छा हुई जाकर देखनेकी, परंतु गुरुने तो आनेपर भी न बोलनेका आदेश दे दिया है ।

'मठको तो चिकित्सालय बना दिया गया ।' फिर समाचार मिला । 'सब सम्पत्ति दे दी गयी ।'

'अपने रोगने दूसरे रोगियोंके कष्टोंका ध्यान दिलाया ।' भर्तृहरि मन-ही-मन सोच रहे थे ।

'चिकित्सालय उसी साधुके संरक्षणमें रहेगा, जिसने विष दिया था ।' आज वह जंगली पुरुष बहुत उदास है । उसने सुना है कि बाबा भैरवनाथको उनके ही किसी शिष्यने विष दे दिया था । बाबाजीने उसे कोई दण्ड न दिया और न किसीको देने दिया । उल्टे उसे सम्मानित किया उन्होंने.। 'वह तो चाहता ही था कि मठकी गद्दी उसे मिले ।'

'अब सत्त्वगुण जाग्रत् हुआ है ।' भर्तृहरि मन-ही-मन गणित कर रहे थे । गुरुदेवके बताये हुए वर्षमें पूरे नौ महीने बीत चुके ।

'मुझे क्षमा नहीं मिलेगी ?' जैसे कोई वर्षोंका रुग्ण हो । कहाँ गया वह पुष्ट भव्य शरीर । हड्डियोंके ऊपर स्नायु लपेटकर चमड़ेसे ढकी एक आकृतिमात्र रह गयी । मांसका नाम नहीं । नेत्र गड्ढेमें चले गये । उनके चारों ओर घनी कालिमा फैल गयी । शरीर पीला हो गया । भर्तृहरिको दया आयी । गुरुबन्धु इस अवस्थामें सम्मुख खड़ा नेत्रोंसे धाराएँ बहा रहा है और वे उसकी ओर देखतेतक नहीं ।

'मैं अधम हूँ । सचमुच ही आप मुझसे बोलें, इस योग्य नहीं हूँ । यहाँ आकर अपने अपवित्र स्पर्शसे इस पुण्याश्रमको दूषित किया है मैंने ।' भूमिमें मस्तक रखकर वह फिर उठा—'केवल एक प्रार्थना है, गुरुदेव कभी पधारें तो उनकी तनिक-सी चरण-रज किसीके द्वारा सरिताके उस तटपर इस कंगालके लिये भेज देंगे । प्राण न भी रहा तो अस्थियाँ उसकी प्रतीक्षा करेंगी ।'

'गुरुदेव ! गुरुदेव !' भर्तृहरिकी वाणी नहीं, परंतु उनका हृदय हाहाकार कर रहा था । उनका गुरुबन्धु लौट रहा है । उन्हें इतना कठोर आदेश पालन करना है कि बोलतक नहीं सकते । 'गुरुदेव !'

'भैरव !' जैसे कानोंमें अमृत पड़ा हो ।

'गुरुदेव !' दोनों चौंके, दोनों दौड़े और आज बाबा गोरखनाथके चरणोंपर भर्तृहरि और भैरवनाथ एक साथ पड़े थे—समान, बिना भेदके ।

'मेरे बच्चे !' बाबाने पहले भैरवनाथके मस्तकपर हाथ फेरा 'तू मूर्ख नहीं है । देख तो कौन गुणोंमें लिप्त होकर उनका उपभोग करता है और फलतः गुणोंमें स्थित होकर बार-बार आता-जाता है संसारमें ।'

'प्रकाश—दिव्य प्रकाश! श्रीगुरुमूर्तिका वही अणु-अणुमें व्याप्त दिव्य तेज !' जब बाबा गोरखनाथ कह रहे हैं तो भैरवनाथ अज्ञानी—मूर्ख कैसे रह सकते हैं । उनके ज्ञाननेत्र आज आवरणहीन हैं । अब कुछ उनके लिये रहस्य कैसे रह सकता है ।

कामके पत्र

(१)

लगन होनेपर भजनमें कोई बाधा नहीं दे सकता

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आप लिखते हैं 'मैं गृहस्थाश्रममें फँसा हूँ, परिवारपालनके लिये धन कमाना पड़ता है । इस अवस्थामें साधन-भजन कब और कैसे करूँ ।' आपका लिखना बहुत ठीक है । ऊपरसे देखनेपर आपकी बात बहुत ही ठीक और युक्तियुक्त प्रतीत होती है । और यह भी कोई नहीं कह सकता, आप अपने परिवार-पालनके कार्यको छोड़ दें; परंतु यदि गहराईसे विचार किया जाय तो माल्लम होगा यह विचार वस्तुतः हमारे मनका धोखा ही है । भजन-साधनमें लगन और रुचि होनेपर उसमें कोई भी बाधा नहीं पड़ सकती । शास्त्रोंमें उदाहरण दिया गया है कि 'परव्यसनिनी नारी दिनभर घरके काम-काजमें लगी रहती है, किसी काममें त्रुटि नहीं करती, पर उसका मन दिन-रात अपने इच्छित विषयमें लगा रहता है । उसे वह भूल नहीं सकती ।' इसी प्रकार साधक गृहस्थीके सारे कर्म सुचारुरूपसे करता हुआ ही चित्तवृत्तिको भगवान्के भजनमें संयुक्त रख सकता है । भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनको सब समयमें अपना (श्रीभगवान्का) स्मरण करते हुए युद्ध करनेकी आज्ञा दी है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
(गीता ८ । ७)

जब युद्ध-सरीखा विकट कर्म भी भजन-स्मरणमें बाधक नहीं होता, तब गृहस्थाश्रममें अन्यान्य कर्म कैसे बाधक हो सकते हैं । लगन होनी चाहिये । यह तो हमारा मन ही भाँति-भाँतिके बहाने बताकर हमें प्रसारित किया करता है और हम अपनी लगनके अभावसे उसीको सत्य प्रमाण मानकर हाँ-में-हाँ मिला देते हैं । यदि आप इस बातको भलीभाँति समझ लें और विश्वास कर लें कि मानव-जीवनका चरम और परम उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है । भगवान्की प्राप्तिके बिना जीवन व्यर्थ है और साथ ही यह भी विश्वास कर लें कि संसारके विषय विषरूप हैं, इनके सेवनसे बार-बार मृत्युके मुखमें पड़ना पड़ेगा तो आपकी अपने-आप ही विषय-भोगोंमें अरुचि हो जाय और आप भगवान्को भजने लगें ।

धनके महत्त्वको जान लेनेपर धनकी आवश्यकतावाले पुरुषको यह समझाना नहीं पड़ता कि वह धनोपार्जनके लिये प्रयास करे । वह अपने-आप ही दिन-रात उसी उद्योगमें लगा रहता है । और यदि उसे कहीं पता लग जाय कि अमुक स्थानपर असीम धनराशि गड़ी है एवं वह तुम्हें मिल सकती है, तब तो वह हजार काम छोड़कर उसकी प्राप्तिके प्रयासमें लग जायगा । इसी प्रकार किसीको माल्लम हो जाय कि तुम जिस लड्डूको खाने जा रहे हो, वह सुन्दर है, मधुर है; परंतु उसमें जहर मिला हुआ है, तो चाहे जितनी भूख लगी हो और लड्डुओंमें चाहे जितना मन आसक्त हो, पर वह लड्डू नहीं खायेगा । इसी प्रकार भगवत्प्राप्तिकी अनिवार्य आवश्यकताका अनुभव होनेपर तथा भजन-साधनसे वे शीघ्र मिलते हैं यह विश्वास होनेपर मनुष्य चाहे जैसे भी हो, भजन-साधन करेगा ही; और यह विश्वास हो जानेपर कि विषय सचमुच विष ही है, वह स्वाभाविक ही उनका त्याग कर देगा । हमलोग भगवान्की महत्ता और विषयोंकी विषमयताकी बात कहते-सुनते तो हैं; पर वस्तुतः हमारा विश्वास ऐसा नहीं है । इसीलिये हममें न तो भगवद्भजनकी लगन है, न विषय-त्यागकी ही ।

श्रीतुलसीदासजी महाराज तो कहते हैं कि जैसे

कामीको नारी प्रिय होती है और लोभीको धन प्रिय होता है, वैसे ही मुझको निरन्तर हे भगवान् श्रीरामचन्द्र ! आप प्रिय लगें ।

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

भगवान्में ऐसी प्रियता होनेपर तो हम उन्हें भूल ही नहीं सकते, चाहे घरका कितना ही काम हो । जबतक ऐसा न हो, तबतक रोग-नाशके लिये जैसे दवा ली जाती है, वैसे ही भव-रोगनाशके लिये दवाके रूपमें भगवान्का भजन करना चाहिये ।

यदि हम अपनेको भगवान्का सेवक मान लें और घरके स्वामी भगवान्को, तो फिर घरका भी प्रत्येक काम भगवान्की सेवा या भजन ही बन जायगा। उस अवस्था-में मुखसे भगवान्का नाम लेते हुए और मनसे भगवान्-का चिन्तन करते हुए हम बड़ी आसानीसे घरके सारे काम सुचारुरूपसे रस प्राप्त करते हुए करेंगे । हमारा जीवन भजनमय ही हो जायगा । अतएव आप इस धारणाको त्याग दीजिये कि घरका काम करते हुए भजन नहीं बनता । वरं यह दृढ़ धारणा कीजिये कि निरन्तर भजन करते हुए घरका सारा काम भलीभाँति हो सकता है । यहाँतक कि सारा काम ही भजन बन सकता है ।

(२)

भगवान्का स्वरूप

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला। धन्यवाद ! आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्का स्वरूप क्या है ? यह ठीक-ठीक भगवान् ही जानते हैं । अथवा वे कृपा करके जिसे जना दें, वह भगवत्-स्वरूपके विषयमें कुछ-कुछ जान सकता है । कुछ-कुछ इसलिये कि मानवी बुद्धि भगवान्के स्वरूपतक पहुँच ही नहीं सकती । उनकी महिमाके एक अंशका भी सम्यक् रूपसे ग्रहण नहीं कर सकती । जहाँ ब्रह्मा आदि देवताओंकी भी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, शेष-शारदाकी भी वाक्-शक्ति अवरुद्ध हो जाती है वहाँ मानवीय मन-बुद्धिकी क्या गति होगी—यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है । शास्त्रकी वाणीमें—जहाँ सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान तथा सम्पूर्ण वैभव प्रतिष्ठित हैं, वे ही भगवान् हैं । श्रीमद्भागवतमें भगवत्-स्वरूपकी त्रिविध अभिव्यक्ति सूचित की गयी है—ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् । 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते' । ब्रह्म निर्गुण निराकार हैं, परमात्मा सगुण निराकार हैं और भगवान् सगुण साकार मङ्गलविग्रह दिव्य सच्चिदानन्दघनस्वरूप हैं । जैसे भगवान् सूर्यकी त्रिविध अभिव्यक्ति होती है—एक सूर्यका प्रकाश है, जो सर्वत्र व्यापक है । दूसरा सूर्यमण्डल है, जो प्रकाशका घनीभूत पुञ्ज है तथा तीसरी अभिव्यक्ति साक्षात् सूर्यनारायणकी है, जो सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता हैं । यहाँ प्रकाश सूर्यमण्डलके आश्रित है और सूर्यमण्डल सूर्यनारायणके । इस प्रकार भगवान् सूर्य ही सम्पूर्ण तेज और प्रकाशके उद्भावक हैं । वे एक देशमें स्थित होकर भी प्रकाशके रूपमें सर्वत्र व्याप्त हैं और तेजोमण्डलके रूपमें सम्पूर्ण लोकके प्रकाशक एवं सविता (उत्पादक और पालक) हैं । इसी प्रकार सर्वव्यापक प्रकाशस्थानीय ब्रह्म ही विभु हैं । वही अनन्त, असीम, अगुण एवं अवाङ्मनस-गोचर तत्त्व है । इस ब्रह्मका भी आश्रय—घनीभूत प्रकाश, जिसे चिन्मय परम धाम, परम पद, परम व्योम, त्रिपाद अमृत एवं वैकुण्ठ आदि धाम कहते हैं, परमात्मा है; और इस घनीभूत प्रकाश-पुञ्जके भी प्राण, आत्मा एवं आधार सच्चिदानन्दरसघनविग्रह अखिलरसामृत-सिन्धु साक्षात् भगवान् हैं, जिन्हें शास्त्र श्रीकृष्ण, श्रीराम, महानारायण, सदाशिव आदि नामोंके द्वारा वर्णन करता है । यह त्रिविध अभिव्यक्ति एक ही है ।

एक ही तत्त्वके तीन नाम दे दिये गये हैं। इस प्रकार सगुण साकार सच्चिदानन्दमय मधुरातिमधुर विग्रहका ही नाम भगवान् है। यहाँ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। वास्तवमें भगवत्-स्वरूपका किञ्चित् मात्र बोध भी केवल भगवत्कृपासाध्य है। यह स्वानुभवैकगम्य विषय है।

(२) आत्माका स्वरूप क्या है? यह प्रश्न करते समय आप 'आत्मा'के मानी 'जीव' समझ रहे हैं। भागवत, गीता तथा रामायण आदि सद्ग्रन्थोंमें जीवको 'ईश्वरका अंश' कहा गया है। स्वरूपतः वह भी विमल चैतन्यरूप एवं सहज आनन्दराशि है, किंतु मायावश वह अपने स्वरूपको भूल गया है; अतएव वह अपनेको बद्ध, दुखी, जरा-मृत्युसे ग्रस्त मानता है। जब सत्-समागम तथा पुण्यविशेषसे वह भगवान्‌की शरण जाता है, तब वे कृपा करके जीवको अपनी भक्ति देते और उसे अपने स्वरूपका बोध कराते हैं। फिर तो वह अपनेको प्राकृत-शरीरसे अतीत, अजर, अमर, अजन्मा एवं नित्यमुक्त देखने लगता है और भगवत्सेवाजनित सुखके सिन्धुमें निमग्न हो जाता है। जीवभावकी निवृत्ति होनेपर यह विशुद्ध आत्मा बन जाता है। विशुद्ध आत्मा तो वह अब भी है ही, जीवत्वके भ्रमसे इस सत्यको देख नहीं पाता। भ्रम दूर होनेपर सत्यका उसे साक्षात्कार होने लगता है। फिर तो वह परमात्मासे भिन्न नहीं रह जाता। केवल भगवत्सेवा-रसका आस्वादन करनेके लिये अपने पार्थक्य-अभिमानको बनाये रखता है। 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।' यह उसकी सहज निष्ठा है।

(३) 'परमात्माका स्वरूप क्या है?' इस विषयमें ऊपर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। जब केवल परमात्माके विषयमें प्रश्न हो, तब उसे सम्पूर्ण परमात्म-तत्त्व—समग्र ब्रह्मविषयक समझा जाता है। अतः परमात्मापदसे यहाँ ईश्वर, भगवान्, ब्रह्म आदि सभी नामोंका ग्रहण हो जाता है। अतः जो सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डका आत्मा और आधार है, जिससे यह सब कुछ उत्पन्न होता है, जहाँ इसकी स्थिति है और पालन होता है तथा अन्तमें जहाँ इसका विलयन हो जाता है; वह सर्वात्मा, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, सर्वपोषक तत्त्व ही परमात्मा है। वह सम्पूर्ण प्राकृत प्रपञ्चमें व्याप्त होकर भी उससे परे है। वह मायाके अधीन नहीं, माया उसके अधीन है। वही बन्धन और मुक्ति देनेवाला है। उसीके स्वरूप-गत प्रकाशसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है। वह मनका भी मन, बुद्धिकी भी बुद्धि, प्राणोंका भी प्राण तथा आत्माका भी महान् आत्मा है। वह सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, सर्वमय, सर्वातीत, भेद-अभेद तथा उभयातीतस्वरूप, मन-बुद्धिसे अगोचर, परमतत्त्व, सारे सिद्धान्तों और फलोंका अन्तिम अनिर्वचनीय और अचिन्त्य फल है।

(४) 'आत्मा कितने हैं?' यह प्रश्न जीवको लेकर बन सकता है। तो जीव अनन्त हैं, असंख्य हैं। यह भेद भ्रम—अज्ञानजनित है। जैसे समुद्रकी बूँदें असंख्य हैं, उसमें उठनेवाली लहरें अपरिमित हैं तथापि वे पृथक् नहीं गिनी जा सकतीं। वे सब मिलकर एक समुद्र है। इसी प्रकार असंख्य चिन्मय जीव एक परमात्माके ही अंश हैं। अतः परमात्मरूप-से सब एक है और जीवरूपसे तो उनकी कोई नियत संख्या सम्भव ही नहीं है।

(५) 'एक है तो कैसे जाना जाय और अनेक है तो कैसे जाना जाय?' इस प्रश्नका उत्तर भी ऊपर आ चुका है। परमात्मरूपसे सब एक है, जैसे समुद्र-रूपसे सब लहरें एक हैं। जैसे समुद्रकी लहरोंकी गणना अशक्य है, वैसे ही जगत्‌के अनन्त जीवोंकी गणना भी असम्भव है। फिर भी शास्त्रकारोंने जीव-

जगत्‌की चार श्रेणियाँ मानी हैं—अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज । चौरासी लाख योनियाँ हैं, जिनमें जीवोंका जन्म होता रहता है । एक-एक योनिमें अनन्त जीव देखे जाते हैं, फिर चौरासी लाख योनियोंकी जीवोंकी गणना कौन कर सकता है। शेष भगवत्कृपा ।

(३)

बुद्धिमान् और चतुर कौन ?

प्रिय महोदय ! आपका कृपापत्र मिला । आजकल यही हो रहा है। जो लोग किसी भी प्रकारसे ठगकर, लूटकर, चोरीकर, छल-कपटकर और तरह-तरहके झूठे प्रपञ्च रचकर रुपया कमा लेते हैं, वे समझते हैं कि उनके समान चतुर, बुद्धिमान् और सफलजीवन पुरुष जगत्‌में कोई नहीं है । दूसरे लोग भी ऐसे ही लोगोंका मान-सम्मान करते हैं, प्रशंसा-स्तुति करते हैं और उनकी हाँ-में-हाँ मिलाते हैं । वे स्वयं और समाजके लोग उनके श्रेष्ठत्वकी घोषणा करते हैं । और समाज उन्हींको आदर्श पुरुष, नेता, बुद्धिमान् और सबका पथ-प्रदर्शक मान लेता है । इसीका यह परिणाम है कि आज समाजमेंसे सत्य, ईमानदारी, सदाचार, धर्मभीरुता आदि सद्गुणोंका लोप हो रहा है। परलोक, कर्मफलभोग, धर्म तथा ईश्वरके भय आदिको भूलकर लोग केवल अर्थपिशाच और अधिकारलिप्सु हुए चले जा रहे हैं। सारे समाजमें यह विषकी बेल फैल गयी है । नये-नये कानून बनते हैं पर बेईमानीके नये-नये रास्ते निकल रहे हैं । पता नहीं, इसका कैसा भयङ्कर कुपरिणाम होगा !

परंतु विचार करके देखनेपर पता लगता है कि बुद्धिमान् और चतुर तो वे लोग भी नहीं हैं, जो भोगोंमें सुख मानकर उनमें आसक्त रहते हैं पर निषिद्ध आचरण—चोरी, ठगी, बेईमानी, झूठ-कपट आदि न करके वैध उपायोंके द्वारा ही भोग प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं । क्योंकि ऐसे लोग यद्यपि जान-बूझकर पाप नहीं करना चाहते; परंतु उनके द्वारा जो दिन-रात विषय-चिन्तन होता है, वह स्वाभाविक ही विषयासक्ति, कामना, क्रोध (या लोभ), मोह, स्मृतिनाश और बुद्धिनाश करके अन्तमें उनका पतन करा देता है (देखिये गीता २ । ६२-६३) । भोगोंसे परिणाममें दुःख उत्पन्न होता है । विचार करनेपर इसका भी सबको पता लग सकता है । सच्ची बात तो यह है कि भोग दुःखयोनि हैं, इसका सभीको अनुभव है, पर मोहवश इस अनुभवसे लोग लाभ नहीं उठा रहे हैं । जो मनुष्य अपनेको पतन और दुःखकी ओर बढ़ाता रहे, वह कभी बुद्धिमान् और चतुर नहीं कहला सकता । श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

नर तनु पाइ विषय मन देहीं ।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई ।
गुंजा गहइ परसमनि खोई ॥

श्रीभगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें उन्हींको बुद्धिमान् कहा है—जो इन दुःख उत्पन्न करनेवाले उत्पत्ति-विनाशशील भोगोंमें अपने मनको नहीं फँसाते (गीता ५ । २२) और जो भगवान्‌को ही सबका मूल तथा भगवान्‌से ही सबको प्रवर्तित समझकर भावके साथ उन्हें भजते हैं (गीता १० । ८) । श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने उद्धवजीसे स्पष्ट कहा है—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥
(११ । २९ । २२)

'बुद्धिमानोंकी बुद्धि और मनीषियोंकी मनीषा यही है कि वे इस असत्य और मर्त्य देहके द्वारा मुझ सत्य और अमृतरूपको प्राप्त कर लें ।'

मनुष्य-शरीरका यही उद्देश्य है और यही परम फल है कि उसमें अपने अधिकारानुसार साधन करके भगवान्‌को प्राप्त कर लिया जाय ।

पर जो लोग इतने भोगासक्त और पतित हैं कि दिन-रात चोरी-ठगी, बेईमानी और झूठ-कपटमें लगे रहकर इसीमें अपनेको गौरवान्वित, पण्डित, बुद्धिमान् और चतुर मानते हैं, वे तो महामूढ़ हैं। वे मानव-जन्मको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं, पापका एक बहुत बड़ा बोझ बाँध रहे हैं, जिसका दुष्परिणाम विविध दुःखों, कष्टों और यातनाओंके रूपमें उन्हें जन्म-जन्मान्तरतक भोगना पड़ेगा। यहाँकी यह मान-प्रतिष्ठा, यह धन-ऐश्वर्य कितने दिनोंका है? यह सुख कबतक रहेगा? वस्तुतः तो इसमें सुख है ही नहीं। पाप करके भोगोंका उपार्जन करनेवाले मनुष्योंका चित्त कभी शान्त, उद्वेगरहित, निर्भय और निश्चिन्त नहीं रह सकता। वे रात-दिन अपने पापोंसे आप ही जलते रहते हैं। यह अनुभव ऐसे सभी लोगोंको न्यूनाधिक रूपमें है जो ऐसे कुकर्मोंमें लगे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे लोगोंके सम्बन्धमें बतलाया है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले, अशुभ कर्मोंमें लगे हुए, निर्दयी नराधमोंको मैं संसारमें लगातार (कुत्ते, सियार, सूअर आदि) आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ। अर्जुन! संसारमें वे मूर्खलोग जन्म-जन्ममें बार-बार आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं और मुझको न पाकर, फिर और भी अधम गतिको (नरकोंकी प्रेत-पिशाचादि योनियोंमें) जाते हैं।' पहले भी भगवान् यह कह आये हैं——

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

'बुरी तरहसे कामोपभोगमें लगे हुए वे लोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं।'

यह है पापियोंकी गति—(१) जबतक जीवन रहा अशान्ति, उद्वेग, भय, ईर्ष्या और कामनाओंकी आगसे जलते रहे, (२) दुर्लभ मानव-शरीर व्यर्थ नष्ट हो गया—भगवत्प्राप्तिके मार्गपर ही नहीं आये, (३) पापोंका इतना भार ले चले कि जिसके फलस्वरूप कुत्ते, सियार, सूअर, नरकके कीट आदि बनना पड़ेगा और नरकोंकी भीषण यन्त्रणाएँ सहनी पड़ेंगी!

भला, कौन ऐसा यथार्थ बुद्धिमान् पुरुष होगा जो अपने जीवनको इस दुष्परिणामपर पहुँचाना चाहेगा। पर यदि कोई ऐसा चाहता है तो स्पष्ट ही है कि वह महामूर्ख है, जो अपने ही लिये आप दुःखोंकी गहरी खाई खोद रहा है।

अतएव विचारनेकी बात यह है कि ऐसे कार्य करनेवाला कोई चाहे अपनेको बुद्धिमान् और चतुर समझकर अभिमान करे या सारी दुनियाँ उसे महान् बुद्धिमान् और अत्यन्त दक्ष मानकर उसका बड़ा भारी सम्मान करे, वास्तवमें यह न तो उसकी बुद्धिमत्ता है, न दक्षता और न इससे उसको किसी प्रकारका लाभ ही है। अतएव आपको इस मोहमें कदापि नहीं पड़ना चाहिये। लोग चाहे मूर्ख मानें, चाहे यहाँ मान-सम्मान न मिले, चाहे यहाँका जीवन लोगोंके देखनेमें दुःखपूर्ण हो, पर जिसके जीवनकी गति भगवान्की ओर है, जो यहाँके सुखोंकी स्पृहा छोड़कर सादा जीवन बिताता हुआ गरीबीसे रहता है, और जो भगवान्के मङ्गल-विधानमें विश्वास रखकर अपनी लौकिक स्थितिके सम्बन्धमें सदा सन्तुष्ट और निश्चिन्त है, वही वास्तवमें बुद्धिमान् है, वही भाग्यशाली है और उसीका मानव-जीवन सफल होता है।

(४)

जीव भजन क्यों नहीं करता?

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद।

(१) इसमें सन्देह नहीं है कि श्रीभगवान् ही जीवमात्रके सच्चे सुहृद् और परम आत्मीय सम्बन्धी हैं। वे ही परम सुख और शान्ति देनेवाले हैं। वे जीव-जगत्के आधार हैं। जीवात्मा उन्हींका सनातन अंश है। अतः जीवका भगवान्के प्रति सहज एवं अटूट प्रेम होना चाहिये। जो जीव अपने और भगवान्के इस सहज सम्बन्धकी घनिष्ठताका अनुभव करता है, उसका भगवान्के प्रति स्वाभाविक अटूट प्रेम होता ही है। परंतु न जाने कब किस कारणसे जीव उस करुणामय सुहृद्से बिछुड़ गया। जीव और भगवान्के बीच एक आवरण-सा पड़ गया। अनादिकालसे और अज्ञात कारणवश जीव प्रभुसे अलग है। अलग होकर यह कभी सुख-शान्ति न पा सका। फिर भी मार्ग भूल जानेके कारण वह प्रभुतक पहुँच भी नहीं पाता। बिछुड़नेके बादसे अबतक इसने अपने मनमें इतने विरोधी संस्कार सञ्चित कर लिये हैं कि उनसे प्रभावित रहनेके कारण इसे अपने प्रेमास्पद प्रभुकी सत्तापर भी यथावत् विश्वास नहीं हो पाता। शास्त्र-श्रवण अथवा सत्सङ्गका अवसर सब जीवोंको तो प्राप्त होता ही नहीं। थोड़े-से लोगोंको यह अवसर अवश्य मिलता है। तथापि उनमें भी अधिकांश जनोंका मन विरोधी संस्कारोंके कारण संशयापन्न रहता है; अतः शीघ्र ही शास्त्रोपदेश या सत्सङ्गका उसपर भी यथार्थ असर नहीं हो पाता। हाँ, अधिक कालतक शास्त्रानुशीलन और सत्सङ्ग करनेसे धीरे-धीरे विरोधी संस्कार दूर एवं दुर्बल होने लगते हैं; फिर दीर्घकालके बाद जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तो प्रभुके साथका अपना सम्बन्ध स्मरण हो आता है। फिर तो पिछली पहचान जाग उठती है और महान्-से-महान् बाधाकी भी परवा न करके प्रेमी जीव अपने प्रियतम प्रभुके पास पहुँचनेके लिये प्रेमके पन्थपर दौड़ पड़ता है। जीव कब बिछुड़ा, क्यों बिछुड़ा ? माया क्यों आवरण डालती है ? इन सब प्रश्नोंमें उलझनेसे आज कोई लाभ होनेवाला नहीं है। जीव जहाँ है, वहींसे उसको अपने प्रभुकी ओर बढ़ना है। कारण और समय कोई भी क्यों न रहा हो, आज जीव अपनेको भगवान्से अलग देखता है। प्रभुसे अपनेको बिछुड़ा हुआ पाता है। यह बिलगाव, यह बिछुड़न दूर होनी चाहिये। यही इस विरही जीवकी जन्म-जन्मकी साध है। जब प्रभुके पास था, उनके चरणोंकी सेवामें था, तब इसे सुख था, शान्ति थी, आराम था, आनन्द था और प्रभुके मधुरातिमधुर प्रेम-रसका समास्वादन प्राप्त होता था। आज जब यह जीव प्रभुसे पृथक् हो गया है, तब भी यह उन्हीं वस्तुओंको चाहता है। पर लक्ष्यभ्रष्ट होनेके कारण यह भौतिक नाशवान् एवं दुःखमय जगत्में, यहाँके विषय-भोगोंमें उस सुख, शान्ति, आराम, आनन्द और मधुर प्रेम-रसास्वादनका लाभ लेना चाहता है। मरु-मरीचिकामें हिरन कितनी ही चौकड़ी क्यों न भरे, वहाँ शीतल जल नहीं मिल सकता। इसी प्रकार भौतिक जगत्के भोगोंमें शाश्वत सुख-शान्तिकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। भगवान्की दयासे जो जीव वस्तुतः इस सत्यको समझ लेता है, वह सब कुछ छोड़कर एकमात्र प्रभु-चरणारविन्दोंका चिन्तन करनेवाला चञ्चरीक बन जाता है। जबतक प्रभु-प्राप्तिके सुखकी विलक्षणता अनुभवमें नहीं आती, तबतक विषयसुख ही श्रेष्ठ एवं स्पृहणीय प्रतीत होते हैं। उस दशामें भजन, साधन, पूजा, पाठ और आराधन आदि भी इस विषय-सुख-सामग्रीका सञ्चय करनेके लिये ही किये जाते हैं। इनकी प्राप्तिमें ही उन साधनोंकी भी सार्थकता दिखायी देती है। सत्कर्म, सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्र-चिन्तनके प्रभावसे जो प्रभुकी महत्ता समझ गये हैं, उन्हें भगवत्-कृपाका ही आश्रय लेकर, भगवान्की प्राप्तिको ही चरम

लक्ष्य बनाकर प्रत्येक साधन अथवा सत्कर्म करना चाहिये। विघ्न, बाधा और विक्षेप आते हैं तो आयें, इस दुःखमय जगत्‌में और है ही क्या, जो आयेंगे। जब अपने साथ भगवत्कृपाका बल है तब किसी भी विघ्न-बाधासे अपनी क्या हानि हो सकती है। विक्षेप आदिका भय भी भगवान्‌के प्रति अथवा उनकी अकारण करुणाके प्रति अविश्वासका ही सूचक है। भगवद्विश्वासीकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवा और कुछ आना ही नहीं चाहिये। सत्य यही है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। विघ्न-बाधा-विक्षेप भी भगवान्‌से भिन्न नहीं; तब भगवद्-भक्तको किसीसे भी भय क्यों होना चाहिये। निर्भरता और निश्चिन्तता तो भगवद्भक्तका स्वाभाविक गुण है।

(२) भगवान् तो सत्य, सुन्दर, सुखस्वरूप हैं ही। उनके नाम, रूप, लीला, धाम सब वैसे ही हैं। जो भगवान्‌को वस्तुतः इस रूपमें समझ सके हैं; उनका सहज आकर्षण उनकी ओर होता ही है। जिनका सहज आकर्षण उनकी ओर नहीं है, वे भगवान्‌के सत्य, सुन्दर, सुखस्वरूपको नहीं जानते। संसारी वस्तुओंकी ओर आकर्षण इसीलिये है कि वे उनसे सुख पानेकी आशा रखते हैं; यदि उनके हृदयमें वस्तुतः यह विश्वास, यह अनुभव हो जाय कि भगवान् ही सुख, शान्ति, सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम और आनन्द-सुधाके सागर हैं तो वे विषय-सुखको तिनकेकी भाँति त्यागकर उस ओर दौड़ पड़ेंगे।

(३) जप-कीर्तनादिमें कमजोरी होनेकी बात लिखी, सो मालूम हुई। हृदय, वाणी, कण्ठ तथा मस्तिष्क एवं मेधाको शक्ति प्राप्त हो, ऐसा प्रयोग किसी सद्वैद्यसे पूछकर करना चाहिये। सात्त्विक आहार, संयम, कुपथ्यसे परहेज तथा स्वास्थ्यकर वस्तुओंका सेवन एवं ब्रह्मचर्य-पालनपर भी ध्यान देना चाहिये।

(४) शारीरिक दुर्बलताके कारण भी आलस्य-प्रमाद आदि घेरते हैं; मनकी एकाग्रता भी नहीं हो पाती। अतः शरीरको स्वस्थ बनाये रखनेकी चेष्टाके साथ-साथ एकाग्र ध्यानका भी अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। मनको एकाग्र करनेका उपाय भगवान्‌ने ही बता दिया है—अभ्यास और वैराग्य। यही पातञ्जल-योगदर्शनका भी मत है। अभ्यास-वैराग्यके स्वरूप और महत्त्वसे आप परिचित होंगे ही। अतः अभ्यास बढ़ानेकी चेष्टा करते रहें।

(५) श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको बाह्य जगत्‌का भान बहुत कम रहता था; वे नित्य ही श्रीकृष्णकी सन्निधिमें रहते थे। उनके लिये सर्वत्र वृन्दावन ही था। उनके भक्तगण ही उनकी सँभाल रखते थे। वृन्दावनकी प्रत्येक वस्तु उनके विरहभावको उद्दीपित करनेवाली थी। अतः वे बार-बार मूर्च्छित हो जाते थे। कभी-कभी यमुनामें कूदकर देरतक डूबे रह जाते। उस दशामें उनके इस शरीरकी रक्षा कठिन जान पड़ने लगी; अतएव भक्तगण इन्हें जगन्नाथपुरी ले गये। प्रभु भक्तपरवश थे। भक्तोंकी इच्छा देखकर ही करुणावश उनके साथ वृन्दावनसे चले गये।

(६) 'निरख सखि ! चार चंद्र इक ठोर' वाले पदका संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार जान पड़ता है, प्रिया-प्रियतम दोनों यमुनाजीके तटपर बैठकर उनकी चञ्चल लहरोंकी शोभा देख रहे हैं। उस समय कोई सखी दूसरी सखीसे उस झाँकीका वर्णन कर रही है। प्रिया-प्रियतमकी परछाहीं भी जलमें दिखायी पड़ती है, अतः वे दोसे चार हो गये हैं। शब्दार्थ इस प्रकार है—

'सखी ! देखो तो सही, एक ही स्थानपर चार चन्द्रमा एकत्र हो गये हैं। प्रियतम श्यामसुन्दर और प्रियतमा श्रीकिशोरीजी दोनों बैठे हैं, और सूर्यनन्दिनी यमुनाकी ओर देख रहे हैं। चारमेंसे दो चन्द्रमा तो श्यामघनकी भाँति नील वर्णके हैं (एक श्यामसुन्दर और दूसरा उनका प्रतिबिम्ब है) तथा दो चन्द्रमाओंकी झाँकी गौर वर्णकी है। (किशोरीजी और उनका प्रति-

बिम्ब—ये दो गोरे हैं) इन चारों चन्द्रमाओंके बीच चार शुक शोभा पा रहे हैं। इनकी नासिका ही शुकके समान प्रतीत होती है। केवल किशोरीजी ही अपनी नासिकामें मुक्ता-फल धारण करती हैं; अतः वह उन्हींके प्रतिबिम्बमें भी लक्षित होता है। इस प्रकार चार शुकोंके बीच दो ही फल हैं। चारोंके आठ नेत्र ही आठ चकोर हैं। प्रत्येक चन्द्रमा (मुख-चन्द्र) के साथ प्रवाल (मूँगा) है, कुन्द है और भ्रमर भी है। यहाँ अधर ही प्रवाल हैं, दन्तपङ्क्ति ही कुन्द है और भ्रूलता ही भ्रमरावलि है। ऐसे शोभामय चन्द्र-व्रजमें मेरा मन उलझ गया है। सूरदासजी कहते हैं, मेरे दोनों ही प्रभु रूपकी निधि हैं, इन युगल-किशोरकी झाँकीपर बलिहारी है! बलिहारी है!'*

(७) आप तो प्रभुकी लीला-कथाके गायक हैं! उनका निरन्तर चिन्तन करते रहे हैं। प्रभुके रूप, रस, लीला, धाम और नामकी माधुरीमें मनको डुबाये रक्खें; फिर उनका विशुद्ध प्रेम या अनुराग तो प्रभु स्वयं ही दया करके देंगे। वह किसी साधनका फल नहीं, प्रभुकी कृपाकी देन है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

आजके मठ और आश्रम

प्रिय महोदय! आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि मैं कई वर्षोंसे एकान्तमें रहकर भजन-ध्यान करनेकी इच्छासे विविध आश्रमों और मठोंमें रहता आया हूँ पर मुझे कहीं भी शान्ति नहीं मिली। जहाँ गया, वहीं प्रपञ्च पाया और उकताकर मुझे वहाँसे भागना पड़ा।' बात ठीक है। शान्ति किसी स्थानविशेषमें नहीं है, शान्ति तो आपके अंदर है और वह अनुकूल वातावरण मिलनेपर कहीं भी प्रकाशित हो सकती है। आजकलके आश्रमों और मठोंमें अधिकांशकी स्थिति अच्छी नहीं है। इस विषयमें पिछले दिनों **स्वामी असीमानन्दजी सरस्वतीने** एक लेख लिखा था, उसके कुछ अंशका अवतरण नीचे दिया जाता है, इससे आजकलकी ऐसी संस्थाओंकी दशाका अनुमान लगाया जा सकता है। वे लिखते हैं '........अतीत भारतका आडम्बरशून्य एक आश्रम भारतवर्षको जो अमूल्य सम्पत्ति दान कर जाता था, आजके सैकड़ों मठ-मन्दिर और आश्रम क्या वैसी सम्पत्ति दे सकते हैं? आज महलोंपर महल बन रहे हैं, प्रचार-पर-प्रचार चल रहा है पर सच्चे आश्रमोंका आदर्श मानो क्रमशः इस कोलाहल और आडम्बरमें लुप्त हुआ जा रहा है। × × × शान्ति और आनन्दकी धाराका वितरण करनेके लिये जगत्के हितार्थ जिसकी स्थापना की गयी है, वहाँ आगे चलकर मिलती है दलबंदीकी विषक्रिया, और वैयक्तिक प्रधानताकी दारुण दावाग्नि! मनुष्य शान्तिकी आशासे मनके व्याकुल आवेगको लेकर वहाँ जाता है पर कुछ दिनोंमें ही वहाँसे भागनेके लिये व्याकुल हो उठता है।

धर्मलाभकी आशासे आश्रमका निर्माण किया जाता है, आश्रमका अवलम्बन करके धर्मसाधनका सङ्कल्प किया जाता है; परंतु आगे चलकर वह आश्रम धर्म-लाभका अवलम्बन नहीं रह जाता, वहाँकी धर्मसाधना आश्रमके संगठनका उपकरण बन जाती है और वह आश्रम बन जाता है अर्थागमन और अपने स्वार्थलिप्साकी पूर्तिका साधन। फलस्वरूप कहाँ तो हम साधना करके अपने सारे बन्धनोंको काटकर मुक्तिके मार्गपर चलना चाहते थे और

---

* निरख सखि! चार चंद्र इक ठोर।
निरखति बैठि बिलंबिनि पिय सँग सूर-सुताकी ओर॥
द्वै ससि स्याम नवल-घन सुंदर द्वै कीन्हें बिधि गोर।
तिनकें मध्य चार सुक राजत द्वै फल आठ चकोर॥
बसी सुअंग प्रवाल कुंद अलि अरुझि रह्यो मन मोर।
सूरदास प्रभु अति रति नागर बलि-बलि जुगल-किसोर॥

कहाँ, उसके बदलेमें हमारा वह आश्रम हमें हजारों नये-नये बन्धनोंमें बाँधनेवाला क्षेत्र बन जाता है। आश्रम होता है अर्थागमनका केन्द्र। आश्रममें धन बढ़ता है, आश्रमवासियोंकी संख्या बढ़ती है, नाम होता है, यश भी होता है, घर बनते हैं, गाड़ी-मोटरें आती हैं और ऐश्वर्य बढ़ जाता है; परंतु जब अपने भीतरकी ओर देखा जाता है तो दिखायी देता है कि अन्तरका सारा ऐश्वर्य—अन्तर्देवता हमारी बिना ही जानकारीके कभीका लुप्त हो गया है। धर्मका दम्भ करके, जनहितके नारे लगाकर जड़-जगत्के ऐश्वर्यमें चाहे हमें सम्राट्त्व मिल गया हो; परंतु साधनाके राज्यमें तो हम दिवालिये हो गये हैं। हमारे अन्तरका दैन्य अपनी विशालताको लेकर प्रतिपल हमारा उपहास करता है!'

यह है आजके अधिकांश आश्रमों और मठोंकी स्थिति। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी आश्रम ऐसे ही हैं। अच्छे आश्रम भी होंगे। पर वैसे बहुत थोड़े हैं। इसीसे मैं तो सदा यही सलाह दिया करता हूँ कि घरमें रहकर भगवान्का भजन कीजिये। घरमें जितनी सुविधा है, उतनी बाहर कहीं नहीं मिलेगी। मेरा तो अब भी यही निवेदन है कि आप बाहर भटकना छोड़कर घरपर रहिये। त्यागपूर्वक रहनेसे घरवाले भी आपपर प्रसन्न रहेंगे। घरवालेंकी अप्रसन्नता तो स्वार्थसे ही होती है। उनके स्वार्थमें आप बाधक न होंगे तो वे आपसे प्रसन्न रहेंगे तथा आप सुखपूर्वक साधन-भजनका अभ्यास भी कर सकेंगे। आपको कहीं शान्ति नहीं मिली, चित्त उकता गया। इसका कारण यह भी हो सकता है कि आपके चित्तमें ही कहीं कोई दोष हो। आपके जिस चित्तने घरमें अनुकूलता न पाकर जैसे वहाँसे आपको भगाया, वैसे ही उसीने इन आश्रमोंमें भी अनुकूलता न पाकर आपको उकताया हो तो क्या आश्चर्य है। किसीमें दोष न होनेपर भी वह हमारी दृष्टिमें प्रतिकूल हो सकता है। अतः मेरी यह प्रार्थना है कि आप भगवान्का मङ्गल विधान समझकर सदा सर्वत्र अनुकूलताकी भावना कीजिये। अनुकूलता हो जानेपर फिर, आप किसी भी परिस्थितिमें शान्तिपूर्वक रह सकेंगे।

(६)

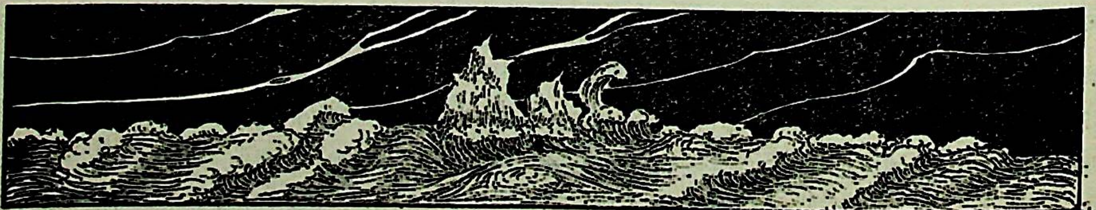
संकुचित स्वार्थ बहुत बुरा है

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप जिस दृष्टिकोणसे अपनी स्वार्थरक्षाका विचार कर रहे हैं, वह यद्यपि आपकी युक्तियोंके अनुसार ठीक हो सकता है परंतु यह दृष्टिकोण वस्तुतः दूषित है। हमारी संस्कृतिमें तो 'समस्त भूत-प्राणियोंको अपना आत्मा समझना,' 'सारी दुनियाँको अपना कुटुम्ब मानना,' 'अपनी उपमासे सबके सुख-दुःखका अनुभव करना,' 'सबको भगवत्स्वरूप समझकर सबकी सेवा करना' और 'सबका अंश देकर बचा हुआ प्रसादामृत स्वयं खाना'—इसीको उत्तम और कर्तव्य माना गया है। यह तो आजके इस उन्नत माने जानेवाले पतित युगकी महिमा है कि जिसमें कुटुम्बकी परिभाषा केवल अपनी स्त्री तथा छोटे बच्चोंतक ही सीमित हो गयी है। सारा स्वार्थ केवल अपने शरीरकी दृष्टिसे 'मुझे और मेरे' तक ही केन्द्रित हो गया है और इसीमें बुद्धिमानी तथा सन्तुष्टि मानी जा रही है। मानव-जीवनके विशाल दृष्टिकोणको समझनेके लिये स्वार्थकी इस अत्यन्त क्षुद्र सीमाका अतिक्रमण करके बहुत आगे बढ़ना होगा। यह वस्तुतः बड़ा भारी मतिभ्रम है। इससे हमारी अन्तरात्मा कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह चाहती है—अखण्ड आनन्द और परम शान्ति। पर हम इनको खोज रहे हैं क्षुद्र सीमित स्वार्थके गंदे गड्ढेमें। इसीसे सुखके स्थानपर दुःखोंकी तथा शान्तिके स्थानपर अशान्तिकी

परम्परा चल रही है। क्षुद्र कामनाके वशीभूत होकर आज हम परस्वापहरण, क्रोध, द्रोह, असत्य और अन्यायके द्वारा अखण्ड सुख पानेका स्वप्न देख रहे हैं!!

आप निश्चय मानिये—आपके माता-पिता, आपके ताऊ-चाचा, आपके बड़े और छोटे भाई तथा परिवारके अन्य सदस्य—इनमें पराया कोई भी नहीं है। आप इनको कुछ भी न देकर स्वयं ही सारी सम्पत्तिके स्वामी बनना चाहते हैं और इसका धर्म तथा न्यायके द्वारा समर्थन चाहते हैं, यह आपकी बड़ी भूल है। जबतक आप सम्मिलित कुटुम्बमें हैं तबतक न्यायके अनुसार सभीका हिस्सा है। पैतृक सम्पत्तिमें तो है ही, आपकी कमाईमें भी है। आपको ईमानदारीके साथ कुछ भी न छिपाकर सबका न्याय्य-प्राप्त अंश प्रसन्नताके साथ प्रत्येकको दे देना चाहिये। उचित तो यह है कि आप सम्मिलित कुटुम्बको ही कायम रहने दें और सबको अपनी कमाईमें सदा हिस्सेदार समझकर सबका भरण-पोषण यथायोग्य करते रहें। क्या आप यह मानते हैं कि आपकी कमाईमें उनका कोई हाथ नहीं है? यदि ऐसा समझते हैं तो यह आपका मिथ्या गर्व है जो आपके लिये परिणाममें कभी हितकर नहीं हो सकता। माता-पिताने तो आपको जन्म दिया, पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया और मनुष्य बनाया। ताऊ तथा चाचेके लिये आप स्वयं कहते हैं कि उनका बर्ताव मेरे साथ बुरा नहीं हुआ। भाई तो घरका सारा काम करते ही हैं। आप दो-चार अक्षर ज्यादा पढ़े हैं और आपकी आमदनी उनसे कुछ ज्यादा है इसीपर आप उन्हें निकम्मा, व्यर्थका खानेवाले और भाररूप मानने लगे? आप अपने हृदयको विशाल बनाइये। इससे आपको लाभ होगा। अभी जो आपको आशङ्का हो रही है और भविष्यकी बड़ी चिन्ता हो रही है इसमें प्रधानतया आपके क्षुद्र स्वार्थके विचार ही कारण हैं। सीमित तथा गंदे स्वार्थके द्वारा जो लोग पराजित हो जाते हैं, उनकी यही दशा हुआ करती है। उन्हें पद-पदपर शंका-सन्देह होता है। घरवाले सब शत्रु-से दिखायी देते हैं। वे समझते हैं कि ये सब हमें लूट खाना चाहते हैं। ये विचार वस्तुतः बहुत निम्नकोटिके हैं। आपको अखण्ड आनन्द और शान्ति इन विचारोंसे कभी नहीं मिलेगी। सबके हित और सुखके लिये स्वार्थको विस्तृत कीजिये। एक अपने कुटुम्बके लिये ही क्यों, समस्त विश्वकी सेवामें आपका तन-मन-धन लगना चाहिये। तभी आप सच्ची शान्ति और अखण्ड आनन्दको पा सकेंगे।

आप सुशिक्षित हैं, सब बातोंको समझते हैं, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि आप इस विषयपर गहराईसे विचार कीजिये। जरा भी लोभ मनमें मत आने दीजिये। यदि आपने लोभके वशीभूत उन लोगोंको न्याय्य-स्वत्वसे वञ्चित किया तो वह आपके लिये आत्मघातसे भी बढ़कर दुःखदायी हो सकता है। दुखी हृदयोंकी हाय मत लीजियेगा। धन न साथ आया है, न साथ जायगा। आपको भी मरना है। सब यहीं रह जायगा। फिर मनमें बेईमानी करके अपने ऊपर पापका भार क्यों लादना चाहिये।



वनस्पति-प्रतिबन्धक कानून

(लेखक—श्रीकिशोरलाल घ० मशरूवाला)

वनस्पतिपर जनमतकी माँग

केन्द्रिय धारासभामें पं० ठाकुरदास भार्गवने 'वनस्पति' यानी तेलोंको जमानेकी क्रिया और धंधेको बंद करनेके लिये एक विधेयक (बिल) पेश किया है। यदि यह विधेयक मंजूर होगा, तो वनस्पतिके सब कारखाने बंद किये जायँगे और विदेशसे भी उसकी आयात करनेकी मनाही होगी। इसके बारेमें लोकमत क्या है, यह समझनेके लिये सरकारने इस विधेयकको अखबारों आदिद्वारा प्रकाशित किया है और तारीख ३१ अगस्तके भीतर अपनी राय जाहिर करनेके लिये सूचना दी है।

आकर्षणोंका जाल

वनस्पति हमारे देशका एक बड़ा महत्त्वका पदार्थ बन गया है। इसके पैदा करनेवाले और बेचनेवाले व्यापारियोंको यह धंधा इतना फायदेमंद साबित हुआ है कि तेजीसे उसके कारखाने बढ़ानेकी कोशिशें हो रही हैं और उसके प्रचारार्थ आकर्षक विज्ञापन आदिमें लाखों रुपया खर्च करना आसान हो गया है। थोड़ा भी महत्त्व रखनेवाले किसी भी अखबारको देखिये तो वनस्पतिके सच्चे-झूठे गुणगान करनेवाले बड़े-बड़े विज्ञापन पाठकोंके ध्यानको आज-कल आकर्षित कर देते हैं। इसके अलावा उसके विषयमें तरह-तरहकी जानकारी देनेवाली बड़े आकर्षक और महँगे कागजपर छपी हुई सचित्र पत्रिकाएँ भी प्रकाशित की गयी हैं और तारीख ३१ अगस्तकी अवधिके भीतर उसके पक्षमें अनुकूल लोकमत प्राप्त करनेके लिये तरह-तरहके प्रयत्न किये जा रहे हैं।

हर प्रकारसे हानिकारक

दूसरी तरफसे यह पदार्थ जितना धंधेवालोंको फायदेमंद हुआ है, उतना ही लोगोंके लिये शकमंद हो गया है। खेती और गोपालनका धंधा चलानेमें इस पदार्थने बाधाएँ पैदा कर दी हैं। घानीका धंधा तोड़ दिया है। आरोग्यकी दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व सिद्ध नहीं होता, फिर भी अपने मायावीरूपसे मोहमें डालकर वह खानेवालेको बिना जरूरी खर्चमें डालता है और एक भ्रममें फँसाता है। शुद्ध तेल और शुद्ध घी प्राप्त करना जनताके लिये उसने बहुत ही मुश्किल कर दिया है। व्यापार-धंधेसे नीतिकी भावना निर्मूल करनेमें उसने बलवान् सहयोग दिया है।

मृग-मरीचिकाके फेरमें

जानकीहरणकी वह काव्योक्ति यहाँ ठीक लागू होती है। मायावी राक्षसने सुवर्णमृगका रूप धारणकर जानकीको आकर्षित किया। राम जानते थे कि यह सुवर्णमृग नहीं हो सकता, फिर भी मजबूर होकर वे उसके पीछे दौड़े। परिणाममें जिसने वह माया पैदा कर दी थी, वह रावण जानकीजीको हरण कर ले गया और उनके शील और जीवन दोनोंको जोखिममें डाल दिया। इसी तरह मायावी तेल भी घीका रूप लेकर जनताको आकर्षितकर गृहस्थको 'यह घी नहीं, नकली पदार्थ है', ऐसा जानते हुए भी उसे खरीदनेपर मजबूर कर देता है। परिणाममें जिसने वह माया पैदा की है, उन उद्योगपतियोंने जनताकी नीति, आजीविका, धन और आरोग्य—चारों जोखिममें डाल दिये हैं।

अनधिकृत विधानोंका ताँता

यह कहना मुश्किल है कि केन्द्रिय धारासभामें पं० भार्गवके बिलका आखिर नतीजा क्या आयेगा। मालूम होता है कि केन्द्रिय और प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलोंमें इस विषयपर एक राय नहीं है। कई मन्त्री वनस्पतिके बिलकुल पक्षमें मालूम होते हैं, कई साफ विरुद्ध और कई तटस्थ। इसमें यहाँतक अनुभव आया है कि इस विषयमें जब एक परिषद् बुलायी गयी थी, तब उसमें आये हुए कई प्रान्तोंके मन्त्रियोंने जो राय दी थी, उससे उल्टी राय उनके मन्त्रि-मण्डलकी ओरसे श्रीजयरामदास दौलतरामने धारासभामें किये हुए निवेदनमें पेश की है। कई मन्त्रियोंने और विशेषज्ञोंने जाने-अनजाने अपने क्षेत्रसे बाहर जाकर भी ऐसे बयान दे दिये हैं, जो वनस्पति उद्योगवालोंके हाथोंमें प्रचारके बड़े उपयुक्त साधन हो गये हैं। उदाहरणार्थ, डा० गिल्डरका निष्णातोंके प्रयोगोंका सारांश देना तो अपने क्षेत्रके भीतरकी बात मानी जा सकती है, परंतु उनका आगाखाँ जेलका किस्सा सुनाना, या यह सर्टिफिकेट दे देना कि उन्होंने खुद वनस्पतिका उपयोग किया है, और उससे उन्हें कुछ नुकसान नहीं हुआ, कतई क्षेत्र-बाह्य बात थी। फिर, यह कहना कि घीका तलनेमें ही ज्यादा करके उपयोग होता है, गलत बात है। इसी तरह डॉ० शान्तिस्वरूप भटनागर यदि इतना ही कहते कि कोई योग्य रंग नहीं प्राप्त हो रहा है, तो वह उनके क्षेत्रकी बात हो जाती। परंतु रंग मिलानेसे उद्योग और वाणिज्यके आर्थिक विकासमें क्या फर्क हो जायगा, यह उनके

क्षेत्रमें नहीं आती थी। जब ये लोग जानते हैं कि इस विषयपर बड़ी गम्भीरतासे सोचनेवाले दूसरे लोग भी हैं, खुद विशेषज्ञों और मन्त्रिमण्डलोंमें भी हैं, तब एक अधिकारी-के पदसे ऐसी अप्रस्तुत बातें करके उन्होंने स्वयं अपनी खुद-की विश्वासपात्रताको ही शङ्कास्पद नहीं बनाया, बल्कि बहुत-से विशेषज्ञों और अधिकारियोंकी भी। हाल-हालहीमें वनस्पतिके जो विज्ञापन निकल रहे हैं, वे सब इन अप्रस्तुत रायोंका फायदा उठा रहे हैं; साथ-साथ इसमें असत्य भी मिलाया जाता है। उदाहरणार्थ डॉ० भटनागरका हवाला देते हुए हिंदी, मराठी, अंग्रेजी विज्ञापनोंमें बताया गया है कि 'परिणामोंसे यह पूर्णतया सिद्ध हुआ है कि वनस्पति पौष्टिक और स्वास्थ्यदायक है।'

'वनस्पति हर प्रकारसे अच्छी है', 'वनस्पतिकी आवश्यकता है।' एक दूसरे विज्ञापनमें लिखा है, 'एक डॉक्टरने यह भी कहा था कि जो वनस्पतिके उत्पादनका विरोध करते हैं, वे निर्धनोंके शत्रु और धनवानोंके मित्र हैं।' ये सब असत्य बातें हैं। विशेषज्ञोंद्वारा अधिक-से-अधिक इतना ही कहा गया है कि आरोग्यकी दृष्टिसे 'कच्चे अथवा परिशुद्ध तेलकी भाँति वनस्पतिका भी कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ा'। अर्थात् कच्चे अथवा परिशुद्ध तेलसे उसकी आरोग्य-कीमत न ज्यादा है न कम। घीके साथ तो उसकी तुलना ही नहीं। हम नहीं जानते कि शुद्ध घी और बाज़ारू मिलावटी घीके साथ वनस्पतिके तुलनात्मक प्रयोग किये गये या नहीं और किये गये तो उसके परिणाम क्यों नहीं बताये गये। फिर भी तेलों-के क्षेत्रमें वनस्पतिने अपनी कोई आरोग्यवर्धक विशेषता नहीं बतायी है। उसकी जो विशेषता है, वह सिर्फ घीका वेश लेकर आँख और मनपर माया फैलानेकी ही है और इसके लिये इसकी वाजिब कीमतसे बहुत ज्यादा दाम उसपर खर्च होते हैं।

हानियाँ कम नहीं

इसके दूसरे नुकसान भी बहुत हैं। उसने तेलके कारखानोंको अनिवार्य बना दिया है। कारखानोंमें तेलकी शुद्धि-क्रियामें जो कचड़ा निकलता है, उसे तेली लोग सस्तेमें खरीदकर फिर उसमें मिलाते हैं। दूसरी चीज़ें भी मिलाते हैं और मिलावटी तेल तैयार करते हैं। वनस्पतिको घीमें मिलाकर उसे भी मिलावटी करते हैं। शुद्ध करनेका और जमानेका खर्च करके भी न शुद्ध तेल मिलता है, न शुद्ध घी। फिर लोग सोचते हैं कि सब झंझटें छोड़कर वनस्पतिका ही उपयोग करना बेहतर है। इस तरह दूसरे खाद्योंको बिगाड़कर वह अपना स्थान जमाता है।

स्थानिक घानियाँ बंद होनेसे उसकी खली भी नहीं हो सकती। मिलकी खलीमें तेलका अंश कम रहता है, अशुद्धियाँ ज्यादा होती हैं, फिर वे निर्यात की जाती हैं और खादमें जाती हैं। यानी मवेशीकी खुराककी एक आवश्यक चीज समुद्र-पार जाती है, और भूमिमें वैसी ही मिलायी जाती है जिससे कितना लाभ होता है इसपर कुछ शंका भी है। इस तरह कृषि और गो-पालन, दोनोंका नुकसान होता है।

अनीतिका तो कहना ही क्या? मिलावट और काला-बाजार आदि चीजोंकी शर्म ही रह नहीं गयी। झूठको प्रचारकी कला बनाया गया है।

सही राय भेजनेका नमूना

इन सब बातोंका खयाल करके लोगोंको, विशेषकर सार्वजनिक सेवाकी संस्थाओं, म्युनिसिपलिटियों, पंचायतों आदिको अपनी राय तारीख ३१ अगस्तके पहले केन्द्रिय सरकारके अन्नमन्त्री और केन्द्रिय धारासभाके सभापतिको भेज देनी चाहिये। राय इस रूपमें भेजी जा सकती है—

'इस सभाका मत है कि इस देशके हितमें खाद्य तेलोंके जमाने या जमाये हुए तेलोंका व्यापार करनेपर शीघ्र प्रतिबन्ध लगाना चाहिये और जबतक ऐसा नहीं हुआ है तबतक जमाये हुए तेलोंमें ऐसा रंग मिलाना चाहिये, जिससे शुद्ध घीके साथ उसे मिलाकर धोखा देना सम्भव न हो।'

ऐसे प्रस्तावकी एक प्रति मन्त्री, गो-सेवा-संघ, गोपुरी, नालवाडी (वर्धा) के पास भी भेज देनी चाहिये।*

विनोबाजीकी सहमति—

श्रीकिशोरलाल भाईके इस लेखके साथ मैं पूरी तरह सहमत हूँ।

परंधाम, पवनार

—विनोबा

---

* सुना गया है कि 'वनस्पति-कारखानेवाले' लोगोंको धोखा देनेके लिये तरह-तरहके प्रचार कर रहे हैं। कहते हैं कि सात लाख रुपये इस प्रचार-कार्यके लिये रक्खे गये हैं। वनस्पति घी बेचनेवाले अपने प्रत्येक ग्राहकसे एक मत-पत्रपर हस्ताक्षर करवा रहे हैं कि 'वनस्पति बड़ा पौष्टिक पदार्थ है, इसमें हमें कोई शिकायत नहीं है।' पर यह सब स्वार्थवश सत्यको छिपानेका प्रयत्न है। वनस्पतिसे सब प्रकारकी हानि है। अतएव 'कल्याणके' पाठकोंको इसके विरोधमें हस्ताक्षर करवाकर श्रीमान् माननीय स्पीकर महोदय, केन्द्रिय विधान संसद, नयी दिल्लीके पतेपर तुरंत बड़ी संख्यामें भेजने चाहिये।—सम्पादक

नाम-महिमा

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः ॥ (विष्णुधर्मोत्तर)

हे राजेन्द्र ! परम मङ्गलमय कृष्णका नाम जिसके मुखसे उच्चारित होता है, उसके करोड़ों महापाप भस्म हो जाते हैं ।

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः ।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम् ॥ (नरसिंहपुराण)

कृष्ण कृष्ण कृष्ण कहकर जो मेरा नित्य स्मरण करता है, जलका भेद करके जैसे कमल उठता है, वैसे ही मैं उसका सहज ही नरकसे उद्धार कर देता हूँ ।

पापानलस्य दीप्तस्य मा कुर्वन्तु भयं नराः ।
गोविन्दनाममेघौघैर्नश्यते नीरविन्दुभिः ॥ (गरुडपुराण)

प्रदीप्त पापानलसे कोई मनुष्य भय न करे । श्रीगोविन्द नाम ही मेघसमूह है । इसके विन्दुमात्र जलकणसे ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।

अनिच्छयापि दहते स्पृष्टो हुतवहो यथा ।
तथा दहति गोविन्दनाम व्याजादपीरितम् ॥

अग्निका स्पर्श अनिच्छासे होनेपर भी जैसे वह जला देता है, वैसे ही गोविन्द नाम किसी बहानेसे भी उच्चारित हो जाता है तो वह सारी पापराशिको जला देता है ।

सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम् ।
शान्तिदं सर्वारिष्टानां हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥ (बृहद्विष्णुपुराण)

श्रीहरिका नाम-कीर्तन समस्त (शारीरिक-मानसिक) रोगोंको दूर करनेवाला, समस्त उपद्रवोंका नाश करनेवाला और समस्त अरिष्टोंको शान्त करनेवाला है ।

हरिनामपरा ये च घोरे कलियुगे नराः ।
त एव कृतकृत्याश्च न कलिर्बाधते हि तान् ॥ (बृहन्नारदीय)

इस कलियुगमें जो लोग हरिनामपरायण हैं वे ही कृतकृत्य हैं । कलियुग उनको दुःख नहीं दे सकता ।

जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
विष्णुलोकमवाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ (बृहन्नारदीय)

जिसकी जीभके अग्र भागपर 'हरि' ये दो अक्षर विराजते हैं, वह विष्णुलोकको प्राप्त होता है, जहाँसे पुनः इस संसारमें लौटना नहीं होता ।

ग्राहक महानुभावोंसे क्षमा-प्रार्थना

कुछ मशीनोंके टूट जाने तथा पुस्तकोंका काम बढ़ जानेके कारण पिछले दिनों 'कल्याण'के प्रकाशनमें लगभग छः सप्ताहकी देर होने लगी थी। अब भी यह अङ्क चार सप्ताह देरसे निकल रहा है। लगभग दस-बारह दिन डिस्पैचमें लगेंगे। जिनके पास आखिरी दिनका डिस्पैच किया हुआ अङ्क पहुँचेगा, उनको वह लगभग छः सप्ताह बाद मिलेगा। ग्राहकोंको इतने विलम्बसे 'कल्याण' मिलना हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात है। और कल्याणके प्रेमी ग्राहकोंको इसके लिये जो चिन्ता होती है तथा बार-बार पत्र लिखने पड़ते हैं, इसके लिये हमें बड़ा खेद है। हम ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं कि जिसमें सितम्बरका अङ्क ग्राहकोंको ठीक समयपर मिल जाय। आशा तो है कि इसमें हमें सफलता मिलेगी। तबतकके लिये सब महानुभाव कृपापूर्वक क्षमा करें, यह हमारी उनसे करबद्ध प्रार्थना है।

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

जिन सज्जनोंको नये ग्राहक बनना हो वे वार्षिक मूल्य ७।।) मनीआर्डरसे भेजकर अथवा वी॰ पी॰ का आर्डर देकर इस वर्षके अबतकके प्रकाशित अङ्कोंसहित मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गोरखपुर

कल्याणके पाठकोंसे विनीत प्रार्थना

इधर कुछ समयसे हमलोग पुराने हस्तलिखित शास्त्रीय ग्रन्थोंके संग्रहका प्रयत्न कर रहे हैं, वह इसलिये कि इन ग्रन्थोंकी रक्षा हो। बहुत-से स्थानोंमें आजकल पुराने ग्रन्थ असावधानी तथा रक्षाकी सुव्यवस्था न होनेके कारण नष्ट हो रहे हैं। अतएव हमारी 'कल्याण'के प्रत्येक पाठकसे प्रार्थना है कि वे वेद-वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण, तन्त्र और धर्मशास्त्र आदि विषयोंके संस्कृत, हिंदी, बंगला ग्रन्थ पुराने कागजोंपर या ताड़पत्रोंपर लिखे हुए संग्रह करके हमें भेजने-भिजवानेकी कृपा करें। व्रजभाषाका अमुद्रित साहित्य किन्हींके पास हो तो वे भी भेजनेकी कृपा करें। खर्च हम देंगे और यदि कोई सज्जन उचित मूल्य चाहेंगे तो उसपर भी विचार किया जायगा।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक 'कल्याण', पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर)